THE

HITOPADEŚA

OF

NĀRĀYAṆ PAṆḌIT

A PROTEGE OF KING DHAVALACHANDRA

WITH HINDI TRANSLATION

OF

The late PAṆḌIT RĀMESHVAR BHAṬṬ

HEAD PANDIT, [illegible] SCHOOL, [illegible]

Ninth Edition

RE-EDITED WITH INDICES, FOOT-NOTES ETC.,

BY

NĀRĀYAN RĀM ACHĀRYA "KĀVYATĪRTH"

PUBLISHED BY

SATYABHĀMĀBĀI PĀNDURANG,

FOR THE 'NIRNAYA SĀGAR' PRESS,

BOMBAY.

1941

॥ श्रीः ॥

श्रीनारायणपण्डितसंगृहीतः

हितोपदेशः



आगरापत्तनस्थराजकीयमुख्यपाठशालीयप्रधानसंस्कृता-

ध्यापकज्योतिर्विद्बालमुकुन्दभट्टसूनु-

पण्डितरामेश्वरभट्टकृतया

भाषाटीकया समलङ्कृतः

तस्येद

नवम संस्करणम्

श्रीमदिन्दिराकान्तचरणान्तेवासिना

नारायण राम आचार्य "काव्यतीर्थ"

इत्यनेन परिशिष्टादिभिः समलङ्कृत्य संशोधितम्

मुम्बय्यां

सत्यभामाबाई पाण्डुरङ्ग इत्येताभि,

निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालयकृते तत्रैवाङ्कयित्वा प्रकाशितम् ।

सवत् २००० सन १९४४.

श्रीः ।

हितोपदेशः ।

भाषाटीकासमलंकृतः ।

प्रस्ताविका ।

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

जिन्होंके ललाटपर चन्द्रमाकी कला गंगाजीके फेनकी रेखाके समान शोभायमान है उन चन्द्रशेखर महादेवजीकी कृपासे साधुजनोंका मनोरथ सिद्ध होय ॥१॥

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

यह हितोपदेश नामक ग्रंथ सुना हुआ संस्कृतके बोलने–चालनेमें चतुरताको, सब विषयोंमें वाक्योंकी विचित्रताको और नीतिविद्याको देता है ॥ २ ॥

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य अपनेको कभी बूढा न होऊँगा और कभी न मरूँगा ऐसा जानकर विद्या और धनका संचय करे, मृत्युने चोटीको आ पकड़ा है ऐसा सोच धर्म करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

पण्डित लोग सब कालमें चौरादिकोंसे नहीं चुराये जानेसे, अनमोल होनेसे और कभी क्षय न होनेसे, सब पदार्थोंमेंसे उत्तम पदार्थ विद्याहीको कहते हैं ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

जैसे नीच अर्थात् तुच्छ तृणादिसे मिलनेवाली नदी उस तृणादिकको अथाह समुद्रसे जा मिलाती है, उसी प्रकार विद्याभी नीच पुरुषको प्राप्त होकर राजासे जा मिलाती है, फिर सौभाग्य उदय कराती है ॥ ५ ॥

---

[1] यहां मनुष्य और तृणकी, विद्या और नदीकी, समुद्र और राजाकी समानता है.

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

विद्या मनुष्यको नम्रता देती है और वह नम्रतासे योग्यता, योग्यतासे धन, धनसे धर्म, फिर धर्मसे सुख पाता है ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ॥ ७ ॥

शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या ये दोनों आदर करानेवाली हैं परंतु पहली अर्थात् शस्त्रविद्या बुढापेमें "पुरुषार्थ न होनेसे" हँसी कराती है और दूसरी अर्थात् शास्त्रविद्या सबकालमें आदर कराती है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

जैसे मृत्तिकाके कोरे बर्तनमें जिस वस्तुका संस्कार पहिले होजाता है और पीछे वह उसमेंसे नहीं जाता है उसी प्रकार मैं इस हितोपदेश ग्रन्थमें कथाके बहानेसे बालकों के लिये नीति कहता हूं ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः संधिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

पञ्चतन्त्र तथा और और नीतिके ग्रन्थोंसे आधार लेकर, १ मित्रलाभ, २ सुहृद्भेद, ३ विग्रह और ४ संधि, ये चार भाग बनाता हूँ ॥ ९ ॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

—इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

इन दोनो श्लोकोंको सुनकर, वह राजा, शास्त्रको नहीं पढनेवाले, तथा प्रतिदिन कुमार्गमें चलने वाले, अपने लडकोंके, शास्त्र न पढनेसे मन व्याकुल होकर सोचने लगा—

'कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुःपीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

जो न पण्डित है और न धर्मशील है, ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ किस कामका? जैसे काणी आखसे क्या सरता है, केवल आँखकोही पीडा है ॥ १२ ॥

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

उत्पन्न नहीं हुआ, तथा होकर मर गया और मूर्ख, इन तीनोंमेंसे पहले[1] दो अच्छे हैं और अन्तिम(मूर्ख)का अच्छा नहीं, क्योंकि आदिके दोनो एकही वार दुःखके करने वाले हैं अंतिमें क्षणक्षणमें (हमेशा) दुःख देता है ॥१३॥

किंच,—

वरं गर्भस्रावो वरमपि च नैवाभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

और गर्भका गिर पडना, स्त्रीका संसर्ग न करना, उत्पन्न होकर मर जाना, कन्याका होना स्त्रीका बाँझ रहना, अथवा उसके गर्भमेंही रहना अच्छा है, परन्तु सुन्दरता तथा सुवर्णके आभूषणोंसे युक्त मूर्ख पुत्र होना अच्छा नहीं ॥ १४ ॥

किंच,—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ १५ ॥

और जिस पुत्रके उत्पन्न होनेसे वंशकी बडाई हो, वह जानों उत्पन्न हुआ, नहीं तो इस असार संसारमें मरकर कौन मनुष्य उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् बहुत-से होते हैं और बहुत से मरते हैं ॥ १५ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम ॥ १६ ॥

गुणियोंकी गिनतीके आरंभमें जिसका नाम गौरवपूर्वक खडियासे नहीं लिखा जाय, ऐसे पुत्रसे जो माता पुत्रवती कहलावे तो कहो बाँझ कैसी होती है? अर्थात् जिसका पुत्र निर्गुणी है वही बाँझ है ॥ १६ ॥

अपि च,—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥

---

१ उत्पन्न नहीं हुआ और होकर मर गया २ मूर्ख.

और भी कहा है कि—दानमें, तपमें, शूरतामें, विद्याके पढ़नेमें और धन लाभमें जिसका मन नहीं लगा वह पुत्र अपनी माताके मलमूत्रके समान है ॥ १७ ॥

अपर च,—

> वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
> एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥ १८ ॥

और दूसरे—गुणी एकही पुत्र अच्छा परंतु मूर्ख सौ अच्छे नहीं, क्योंकि एक चन्द्रमा अँधेरेको दूर कर देता है और अनेक तारे नहीं कर सके हैं ॥ १८ ॥

> पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।
> तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

जिस मनुष्यने किसी पुण्य तीर्थमें अति कठिन तप किया है, उसका पुत्र आज्ञाकारी, धनवान्, धर्मशील और पंडित होता है ॥ १९ ॥

> अर्थागमो नित्यमरोगिता च
> प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
> वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
> षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ! ॥ २० ॥

हे राजन्! नित्य धनका लाभ, आरोग्यता, प्रियतमा और मधुरभाषिणी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र और धन कमानेवाली विद्या, ये संसारमें छः सुख हैं।

> को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलापूरणाढकैः ।
> वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २१ ॥

किसीसेभी उत्पन्न हुआ हो, किन्तु गुणवान् होनेसे प्रतिष्ठा पाता है, जैसे अच्छे वासका बना हुआभी धनुष्य गुण अर्थात् डोरीके विना क्या कर सक्ता है? ॥ २४ ॥

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम्।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५ ॥

इसलिये अब किसी प्रकारसे, इन मेरे पुत्रोंको गुणवान् कीजिये आहार, निद्रा भय, और मैथुन, ये पशुओं और मनुष्योंमें समान हैं, केवल मनुष्योंमें धर्मही अधिक है और धर्महीन मनुष्य पशुके समान है ॥ २५ ॥

यतः,—

'धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्' ॥ २६ ॥

क्योंकि—'जिस मनुष्यमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमेंसे एक भी न हो, उसका जन्म बकरीके गलेके थनके समान वृथा है' ॥ २६ ॥

यच्चोच्यते,—

'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः' ॥ २७ ॥

जैसा कहा जाता है कि 'आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु, ये पाच बातें मनुष्यकी गर्भहीमें उत्पन्न होती हैं' ॥ २७ ॥

किं च,—

'अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः' ॥ २८ ॥

और—'अवश्य होनहार विषय बडोंकोभी होते हैं जैसे महादेवजीको नग्नता और विष्णुका शेषनागपर लोटना' ॥ २८ ॥

अपि च,—

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते' ॥ २९ ॥

और—'जो होनहार नहीं है सो कभी न होगा और जो होनहार है उससे विपरीत न होगा अर्थात् अवश्य होगा—इस चिन्तारूपी विषको नाश करने वाली औषधको क्यों नहीं पीते?' ॥ २९ ॥

एतत्कार्याक्षमाणां केषांचिदालस्यवचनम्।

न दैवमपि संचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

यह तो कितनेही, कार्य करनेमें असमर्थोंका आलस्ययुक्त वचन है। भाग्यको

विचार कर भी मनुष्यको अपना उद्योग नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि ति
उद्योगके तिलोंमेंसे तेल कौन निकाल सका है? ॥ ३० ॥

अन्यच्च.—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
'र्दैवेन देय'मिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३१ ॥

अर्थ भी—उद्योगी तथा पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी अर्थात् ऐसे मनुष्यको लक्ष्मी मिलती है और 'भाग्यमें होगा सो मिलेगा' यह पुरुषार्थहीन मनुष्य कहते हैं, इसलिये भाग्यको छोड़, यथाशक्ति यत्न करना चाहिये और यत्न करनेपर भी कार्य सिद्ध न हो तो उसमें क्या दोष है? ॥ ३१ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ३२ ॥

जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चलता है वैसेही उद्योगके बिना प्रारब्ध नहीं फलता है ॥ ३२ ॥

तथा च.—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३८ ॥

जिन माता-पिताने अपने बालकको नहीं पढाया है, वे उसके वैरी है और वह बालक सभामें, हंसोंमें बगुलेकी तरह शोभा नहीं देता है ॥ ३८ ॥

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

सुन्दरता तथा यौवनसे युक्त और बडे कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य विद्याहीन होनेसे सुगन्धरहित टेसूके पुष्पोंके समान शोभा नहीं पाते हैं ॥ ३९ ॥

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्टितः ॥
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते' ॥ ४० ॥

मूर्ख भी सुन्दर कपडे पहिरे हुए सभामें तभीतक अच्छा लगता है कि जबतक वह कुछ न बोले ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान् । राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ।

यह सोच विचार करके उस राजाने पण्डितोंकी सभा कराई. राजा बोला, हे पण्डितमहाशयो! सुनिये कोई ऐसाभी पण्डित है जो मेरे नित्य कुमार्गी तथा शास्त्रको नहीं पढे हुए बेटोंको अब नीतिशास्त्रके उपदेशसे नया जन्म करानेको समर्थ हो ?

यतः,—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि—सुवर्णके संग होनेसे जैसे काचकी मरकतमणिकी-सी शोभा हो जाती है, वैसेही अच्छे संगसे मूर्खभी चतुर हो जाता है ॥ ४१ ॥

उक्तं च,—

हीयते हि मतिस्तात! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्' ॥ ४२ ॥

और कहा है कि—नीचोंके साथ रहनेसे बुद्धि घट जाती है, समा पुरुषोंके साथ रहनेसे समान रहती है और अधिक बुद्धिमानोंके साथ रहनेसे बढ जाती है ॥४२॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्—'देव! महाकुलसंभूता एते राजपुत्राः । तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ।

उस समय सम्पूर्ण नीतिशास्त्रके सारको जाननेवाले, बृहस्पतिजीके समान एक बडे धुरंधर पण्डित विष्णुशर्माजी बोले—'श्री महाराज! ये बडे सत्कुलमें उत्पन्न हुए राजपुत्र हैं. इसलिये मैं इनको नीति सिखा सकता हूं क्योंकि—

यतः,—

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥ ४३ ॥

अद्रव्य वस्तुमें किया हुआ परिश्रम सफल नहीं होता है. जैसे अनेक उपाय करने पर भी तोतेके समान बगुला नहीं पढ़ाया जा सकता है ॥ ४३ ॥

अन्यच्च,—

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ॥ ४४ ॥

और दूसरे—इस राजकुलमें गुणहीन सन्तान उत्पन्न नहीं होसकती है, जैसे पद्मरागमणियोंकी खानमें काचमणिका जन्म कहां होसकता है ॥ ४४ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि'। राजा सविनयं पुनरुवाच—

इसलिये मैं ६ महीनेमें आपके पुत्रोंको नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूंगा, राजा फिर विनयसे बोले,—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः' ॥ ४५ ॥

हितोपदेशः।

मित्रलाभः।

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—

फिर राजभवनके ऊपर आनन्दसे बैठे हुए, राजकुमारोंके सामने प्रसगकी रीतिसे पडितजी यों बोले—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा' ॥ १ ॥

'काव्यशास्त्रके आनदसे बुद्धिमानोंका और द्यूत आदि दुर्व्यसन, नींद अथवा कलहसे मूर्खोंका समय कटता है' ॥ १ ॥

'तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि।' राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य! कथ्यताम्।' विष्णुशर्मोवाच—'शृणुत। संप्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते। यस्यायमाद्यः श्लोकः—

'इसलिये आपकी प्रसन्नताके लिये काग, कछुआ आदिकी विचित्र कथा कहताहूं'। राजपुत्र बोले—'हे गुरुजी! कहिये'। विष्णुशर्मा बोले—'सुनिये। मैं अब मित्रलाभ कहता हू कि जिसका प्रथम वाक्य यह है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत्' ॥ २ ॥

अस्त्र शस्त्र आदि उपायरहित, तथा धनहीन किन्तु बुद्धिमान् और आपसमें बड़े परम मित्र (लोग), काक, कूर्म, मृग और चूहेके समान शीघ्र कार्योंको सिद्ध कर लेते हैं' ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत्?' विष्णुशर्मा कथयति,—

राजपुत्र बोले—'यह कहानी कैसी है?' विष्णुशर्मा कहने लगे—

'अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति। अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं व्याधमपश्यत्। तमवलोक्याचिन्तयत्—'अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातम्। न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति।' इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः।

'गोदावरीके तीरपर एक बड़ा सेमरका पेड़ है। वहां अनेक दिशाओंके देशोंसे आकर रातमें पक्षी बसेरा करते हैं। एक दिन जब थोड़ी रात रह गई और भगवान् कुमुदिनीके नायक चन्द्रमाने अस्ताचलकी चोटीकी शरण ली तब

॥ कथा १ ॥

'अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्। एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्।' ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्—भाग्येनैतत्संभवति। किंत्वस्मिन्नात्मसंदेहे प्रवृत्तिर्न विधेया।

'एक समय मैंने दक्षिणके वनमें चलते हुए देखा कि एक बूढा बाघ न्हा धोकर कुशा हाथमें लिये सरोवरके किनारेपर बोला—'ओ बटोहियो! यह सुवर्णका ककन लो'. तब लोभके मारे किसी बटोहीने जीमें विचारा कि—'यह बात भाग्यसे होती है? परतु इस आत्माके सदेहमें (अर्थात् कहीं मर न जाऊ इस सोचमें) प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

यतः—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

क्यों कि—दुर्जनसे मनोरथ पूरा भी हो जाय परन्तु परिणाम अच्छा नहीं होता है, जैसे अमृतमें विषके मिलनेसे वह अमृत भी मार डालता है ॥ ६ ॥

किंतु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्तिः संदेह एव।

परन्तु सर्वदा धनके उत्पन्न करनेमें तो सदेह होताही है। जैसा कहा है—

तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

मनुष्य सन्देहोंमें पडे विना कल्याण नहीं देखता है, परन्तु सन्देहोंमें पडकर जो जीता रहता है तो देखता है ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत्।' प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम्?' व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्—'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः?' व्याघ्र उवाच—'शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्त आसम्। अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च। वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमादिष्टः—"दानधर्मादिकं चरतु भवान्।" तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो कथं न विश्वासभूमिः?

इसलिये प्रथम इस बातका निश्चय करूं' प्रकट बोला–'अरे! तेरा कंकन कहा है?' बाघने हाथ पसार कर दिखा दिया। बटोहीने कहा–'मैं तुझ हत्यारेमें कैसे विश्वास करू?' बाघ बोला–'सुनरे बटोही! पहिले मैं युवावस्थामें बड़ा दुराचारी था। अनेक गौओं और मनुष्योंके मारनेसे मेरे स्त्री–पुत्र मरगये. और मैं वंशहीन होगया तब किसी धर्मात्माने मुझे उपदेश किया कि–"आप दान, धर्म आदि करिये". उसके उपदेशसे अब मैं स्नान करता हू, दानी तथा वृद्ध हूं, नख और दात भी मेरे गल गये हैं, मैं विश्वासके योग्य क्यों नहीं हू?

दु खमें, शुभमें और अशुभमें, पुरुष अपनी आत्माके समान प्रमाण करता है ॥ १३ ॥

अन्यच्च,—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

और दूसरे–जो पराई स्त्रीको माताके समान, पराये धनको ककडके समान, और सब प्राणियोंको अपनी आत्माके समान समझता है,वही सच्चा पण्डित है ॥

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम्। तथा चोक्तम्—

तू अत्यत निर्धन है इसलिये मैं तुझे देनेका उपाय करता हू, जैसा कहा है—

दरिद्रान्भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर! दरिद्रियोंका पालन और पोषण कर तथा धनवानको धन मत दे, क्यों कि रोगीको औषध गुणदायक होती है और नीरोगको औषधियाँ वृथा हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च,—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

और–'यह देना है' इस नि स्पृह बुद्धिसे जो दान अनुपकारीको[1] देश काल और सुपात्र विचार कर दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहलाता है ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण।' ततो यावदसौ तद्वचः-प्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः। पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह! महापङ्के पतितोऽसि। अतस्त्वामहमुत्थापयामि।' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः; स पान्थोऽचिन्तयत्—

इसलिये इस सरोवरमें न्हाकर सोनेका कंकण ले। तब ज्योंही वह उसकी मीठी २ बातें सुन कर लोभसे सरोवरमें स्नान करनेके लिये उतरा त्योंही घनी कीचडमें फँस गया और भाग न सका। उसको कीचडमे फँसा देखकर व्याघ्रने कहा–'ओहो! तू बडी भारी कीचडमे फँस गया है, इसलिये मैं तुझे बाहर निकालता हू यह कह कर और हौले हौले पास जाकर उस बाघने उसे पकड लिया, तब वह बटोही सोचने लगा—

'न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ १७ ॥

'जो दुष्ट है उसे धर्मशास्त्र और वेद पढनेसे क्या होता है? क्योंकि, स्वभाव ही सबसे प्रबल होता है, जैसे गायोंका दूध स्वभावसेही मीठा होता है' ॥ १७ ॥

---

१ जिसके साथ प्रत्युपकार या कोई अन्य तरह स्वार्थका संबंध न होय ऐसे पुरुषको.
२ हितो०

यह बात वह सोचही रहा था कि जिसे बाघने मार डाला और खा गया। इसीसे मैं कहता हू कि, "कंकणके लोभसे" इत्यादि. इस लिये विना विचारे काम कमी नहीं करना चाहिये—

यतः,—

'सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्' ॥ २२ ॥

क्योंकि-'अच्छी रीतिसे पका हुआ भोजन, विद्यावान् पुत्र, सुशिक्षित अर्थात् आज्ञाकारिणी स्त्री, अच्छे प्रकारसे सेवा किया हुआ राजा, सोच कर कहा हुआ वचन, और विचार कर किया हुआ काम ये बहुत काल तकमी नहीं बिघड़ते हैं' ॥२२॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह—'आः किमेवमुच्यते ?

यह सुनकर एक कबूतर घमडसे बोला, 'अजी! तुम क्या कहते हो ?

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥

जब आपत्काल आवे तब वृद्धोंकी बात माननी चाहिये और सर्वदा माननेमें तो भोजन भी न मिले ॥ २३ ॥

यतः,—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा? ॥ २४ ॥

क्योंकि-इस पृथ्वीतल पर अन्न और पान सन्देहोंसे भरा है, किस वस्तुमें खाने-पीनेकी इच्छा करे अथवा कैसे जिए? ॥ २४ ॥

ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः' ॥ २५ ॥

ईर्षा करने वाला, घिन करने वाला, असतोषी, क्रोधी, सदा सदेह करने वाला और पराये आसरे जीने वाला ये छ. प्रकारके मनुष्य हमेशा दु खी होते हैं' ॥

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः।

यह सुन कर-सब कबूतर (बहेलियेने चावलके कण जहां छींटे थे) वहा बैठ गये।

यतः,—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

क्योंकि-अच्छे बडे बडे शास्त्रोंको पढने तथा सुनने वाले और सदेहोंको दूर करने वाले भी लोभके वश हो कर दु ख भोगते है ॥ २६ ॥

अन्यच्च,—

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

आपत्तिकालमे घबराजाना तो कायर पुरुषका चिन्ह है, इसलिये, इस काममें धीरज धर कर उपाय सोचना चाहिये,

यतः,—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

क्योंकि–आपदामें धीरज, बढतीमें क्षमा, सभामें वाणीकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम, यशमें रुचि, और शास्त्रमें अनुराग ये बाते महात्माओंमें स्वभावसेही होती हैं ॥ ३२ ॥

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

जिसे सम्पत्तिमें हर्ष, और आपत्तिमें खेद न हो, और संग्राममें धीरता होय ऐसे-तीनों लोकके तिलक विरलेही पुत्रको माता जनती है ॥ ३३ ॥

अन्यच्च,—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

और इस संसारमें अपना कल्याण चाहने वाले पुरुषको निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता ये छ अवगुण छोड देने चाहिये ॥ ३४ ॥

इदानीमप्येवं क्रियताम्। सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोड्डीयताम्।

अब भी ऐसा करो, सब एक मत होकर जालको लेकर उडो,

यतः,—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

क्योंकि–छोटी छोटी वस्तुओंके समूहसे भी कार्य सिद्ध हो जाता है, जैसे घासकी बटी हुई रस्सियोंसे मत वाले हाथी बँध सकते हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

अपने कुलके थोडे मनुष्योंका समूह भी कल्याणका करने वाला होता है, क्योंकि तुस (छिलके) से अलग हुए चावल फिर नहीं उगते हैं ॥ ३६ ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्धावन्नचिन्तयत्–

यह विचार कर सब कबूतर जालको लेकर उडे। फिर वह बहेलिया, जालको लेकर उडने वाले कबूतरोंको दूरसे देख कर पीछे दौडा और चिंता करने लगा.

'संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहंगमाः।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा' ॥ ३७ ॥

इन्हें जालमें फँसा देख कर आश्चर्यसे क्षणभर ठहर कर बोला–'मित्र! यह क्या है?' चित्रग्रीव बोला–'मित्र! यह हमारे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति॥ ४०॥

जिस कारणसे, जिसके करनेसे, जिस प्रकारसे, जिस समयमें, जिस काल तक और जिस स्थानमें जो कुछ भला और बुरा अपना कर्म है उसी कारणसे, उसीके द्वारा, उसी प्रकारसे, उसी समयमें, वही कर्म, उसी काल तक, उसी स्थानमें, प्रारब्धके वशसे पाता है॥ ४०॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्'॥ ४१॥

रोग, शोक, पछतावा, बन्धन और आपत्ति, ये देहधारियोंके लिये अपने अपराधरूपी वृक्षके फल हैं'॥ ४१॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच—'मित्र! मा मैवम्। अस्मदाश्रितानामेषां तावत्पाशांश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि।' हिरण्यकोऽप्याह—'अहमल्पशक्तिः। दन्ताश्च मे कोमलाः। तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः? तद्यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि'। चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवम्। तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्—'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम्।

यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीवके बंधन काटनेके लिये शीघ्र पास आया. चित्रग्रीव बोला–'मित्र! ऐसा मत करो, पहिले मेरे इन आश्रितोंके बन्धन काटो, मेरा बन्धन पीछे काटना'। हिरण्यकने भी कहा–'मित्र! मैं निर्बल हूं। और मेरे दातभी कोमल हैं, इसलिये इन सबोंके बंधन काटनेके लिये कैसे समर्थ हू? इसलिये जब तक मेरे दात नहीं टूटेंगे तब तक तुमारा फंदा काटता हू। पीछे इनकेभी बधन जहा तक कट सकेंगे तब तक काटूगा' चित्रग्रीव बोला–'यह ठीक है, तोभी यथाशक्ति पहिले इनके काटो'। हिरण्यकने कहा–'अपनेको छोड़ कर अपने आश्रितोंकी रक्षा करना यह नीति जानने वालोंकी समति नहीं है,

यतः—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ ४२॥

क्योंकि—मनुष्यको आपत्तिके लिये धनकी, धन देकर स्त्रीकी, और धन तथा स्त्री देकर अपनी रक्षा सर्वदा करनी चाहिये॥ ४२॥

औरभी देखो-जो, अनित्य और मलमूत्रसे भरे हुए शरीरसे निर्मल और नित्य यश मिले तो क्या नहीं मिला? अर्थात् सब कुछ मिला ॥ ४८ ॥

यतः,—

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः' ॥ ४९ ॥

क्योंकि—शरीर तथा दयादि गुणोंमे बड़ा अन्तर है शरीर तो क्षणभंगुर है, और गुण कल्पके अन्त तक रहने वाले हैं' ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत्—'साधु मित्र! साधु। अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते'। एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि। ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं संपूज्याह—'सखे चित्रग्रीव! सर्वथात्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्यात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या।

यह सुनकर हिरण्यक प्रसन्नचित्त तथा पुलकायमान होकर बोला—'धन्य है, मित्र! धन्य है। इन आश्रितों पर दया विचारनेसे तो तुम तीनों लोकोंकीही प्रभुताके योग्य हो'। ऐसे कह कर उसने सबके बंधन काट डाले। पीछे हिरण्यक सबका आदर-सत्कार कर बोला-'मित्र चित्रग्रीव! इस जालबंधनके विषयमें दोषकी शंका कर अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।

यतः,—

योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहामिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

क्योंकि—जो पक्षी सैंकडों योजनसे[1] भी अधिक दूरसे अन्नके दानेको या मांसको देखता है वही बुरा समय आनेसे जालकी गांठको नहीं देखता है ॥५०॥

अपरं च,—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः! ॥ ५१ ॥

और दूसरे-चन्द्रमा तथा सूर्यको ग्रहणकी पीडा, हाथी और सर्पका बंधन, और पण्डितोंकी दरिद्रता, देख कर मेरी तो समझमें यह आता है कि प्रारब्ध बलवान् है! ॥ ५१ ॥

अन्यच्च,—

व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि!' ॥५२॥

और आकाशके एकान्त स्थानमें विहार करने वाले पक्षीभी विपत्तिमें पड जाते हैं,

---

[1] योजन=चार कोश याने ८ या ९ मील

वायसोऽब्रवीत्—'कथमेतत्?'। हिरण्यकः कथयति—

कौवा बोला—'यह कथा कैसे है?' हिरण्यक कहने लगा—

॥ कथा २ ॥

"अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामारण्यानी। तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः। तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—'आः, कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि।' इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्—'मित्र! कुशलं ते?' मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्?' स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि। इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि। अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्'। मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु'। ततः पश्चादस्तंगते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?' मृगो ब्रूते—'जम्बूकोऽयम्। अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता।

मगधदेशमें चम्पकवती नाम एक महान् अरण्य था उसमें बहुत दिनोंसे मृग और कौवा बडे स्नेहसे रहते थे। किसी गीदड़ने उस मृगको हृष्टपुष्ट और अपनी इच्छासे इधर उधर घूमता हुवा देखा इसको देख कर गीदड चिन्ता करने लगा-अरे, कैसे इस सुन्दर (मीठा) मांसको खाऊ? जो हो, पहिले इसे विश्वास उत्पन्न कराऊ। यह विचार कर उसके पास जाकर बोला—'हे मित्र! तुम कुशल हो?' मृगने कहा—'तू कौन है?' वह बोला—'मैं क्षुद्रबुद्धि नाम गीदड़ हू, इस वनमें बन्धुहीन मरेके समान रहता हू, और अब तुमसे मित्रको पाकर फिर इस संसारमें बन्धुसहित जी उठा हू और सब प्रकारसे तुमारा सेवक बन कर रहूंगा'। मृगने कहा—'ऐसाही हो, अर्थात् रहा कर। इसके अनन्तर किरणोंकी मालसे शोभित भगवान् सूर्यके अस्त हो जानेपर वे दोनों मृगके घरको गये और वहां चंपाके वृक्षकी डाल पर मृगका परम मित्र सुबुद्धि नाम कौवा रहता था। कौएने इन दोनोंको देखकर कहा—'मित्र! यह चितकबरा दूसरा कौन है?' मृगने कहा—'यह गीदड़ है। हमारे साथ मित्रता करनेकी इच्छासे आया है'। कौवा बोला—'मित्र! अनायास आए हुएके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये,

तथा चोक्तम्,—

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥ ५६॥

कहाभी है कि—जिसका कुल और स्वभाव नहीं जाना है उसको घरमें कभी न ठहराना चाहिये। क्योंकि बिलावके अपराधसे एक बूढा गिद्ध मारा गया॥५६॥

यतः,—

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

क्योंकि–केवल जातीसे क्या कभी कोई मारने अथवा सत्कार करने लायक होता है ? परंतु व्यवहारको जान कर मारने अथवा पूजनेके योग्य होता है ॥५८॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि, किमर्थमागतोऽसि ?' सोऽवदत्—'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमा[1]चरंस्तिष्ठामि । यूयं धर्मज्ञानरता विश्वासभूमय इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः !

गिद्ध बोला–'कह, किसलिये आया है ?' वह बोला–'मैं यहा पर गंगाजीके किनारे नित्य स्नान करता हू । फलाहारी केवल तथा ब्रह्मचारी हू और चान्द्रायण व्रत करता हू । तुम्हारी धर्म तथा ज्ञानमें प्रीति है और विश्वासपात्र हो, इस प्रकार सब पक्षी सदा मेरे सामने तुम्हारी प्रशंसा किया करते हैं । तुम विद्या और अवस्थामें बडे हो, इसलिये आपसे धर्म सुननेके लिये यहा आया हूं । और आप ऐसे धर्मी हैं कि मुझ अतिथिको मारनेके लिये तैयार हैं !

गृहस्थधर्मश्चैष.—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५९ ॥

परन्तु गृहस्थधर्म तो यह है कि–अपने घर पर वैरीभी आवे तो उसका यथोचित आदर करना चाहिये, जैसे वृक्ष अपने काटने वालेके पास गई छायाको समेट नहीं लेता है ॥ ५९ ॥

यदि वा धनं नास्ति तदा प्रीतिवचसाप्यतिथिः पूज्य एव ।

जो धन न हो तो मीठे २ वचनोंसेही अतिथिका सत्कार करना चाहिये ।

यतः,—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ६० ॥

क्यों कि–कुशाका आसन, बैठनेकी भूमि, जल, और चौथी सत्य और मीठी वाणी इनका सज्जनोंके घरमें कभी टोटा नहीं होता है ॥ ६० ॥

अपरं च,—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६१ ॥

और दूसरे–सज्जन लोग, गुणहीन प्राणियों परभी दया करते हैं । जैसे चन्द्रमा चाण्डालके घर पर पडी चादनीको नहीं समेट लेता है ॥ ६१ ॥

---

१ सावधान और जितेन्द्री होकर कृष्णपक्षमें एक २ ग्रास कम करे और शुक्लपक्षमें एक २ ग्रास बढावे तथा त्रिकाल स्नान करे इसीको मनुने 'चान्द्रायण-व्रत' कहा है.
२ हितो०

"मुझे अवश्य मरना होगा" ऐसी चिन्तासे मनुष्यको जो दुःख होता है वह दुःख अनुमानसे दूसरा मनुष्य वर्णन नहीं कर सकता है ॥ ६७ ॥

शृणु पुनः,—

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ॥ ६८ ॥

फिर सुनो—जो पेट अपने आप उगी हुई साग–भाजीसे भरा जा सकता है उस जले पेटके लिये ऐसा बड़ा (भयकर) पाप कौन करे? ॥ ६८ ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः ।

इस प्रकार विश्वास जना कर वह बिलाव वृक्षके खोहड़मे बैठ गया ।

ततो दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति । येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा । तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः । पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि । अनन्तरं त ऊचुः—"अनेनैव जरद्गवेनास्माकं शावकाः खादिताः" इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य गृध्रो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि–"अज्ञातकुलशीलस्य–" इत्यादि' ॥ इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्यज्ञातकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्धते ?

और थोडे दिन बीत जाने पर वह पक्षियोंके बच्चोंको पकड खोहड़में लाकर नित्य खाने लगा । जिन पक्षियोंके बच्चे खाये गये थे वे शोकसे व्याकुल विलाप करते हुए इधर उधर ढूढने लगे । बिलाव यह जान कर खोहड़से निकल कर बाहर भाग गया । उसके पीछे इधर उधर ढूढते हुए पक्षियोंने उस पेड़की खोहड़में बच्चोंकी हड्डिया पाई । फिर उन्होंने कहा की–"इस जरद्गवने हमारे बच्चे खाये है" । यह बात सब पक्षियोंने निश्चय करके उस गिद्धको मार डाला । इसीलिये मैं कहता हू कि—"जिसका कुल और स्वभाव" इत्यादि' यह सुन वह सियार झुझल कर बोला–'मृगसे पहिलेही मिलनेके दिन तुम्हाराभी तो जात और कुल नहीं जाना गया था, फिर किस प्रकार तुम्हारे साथ इसकी गाढी मित्रता क्रम क्रमसे बढती जाती है ?

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ६९ ॥

जहा पडित नहीं होता है वहा थोडे पढेकीभी बडाई होती है । जैसे कि जिस देशमें पेड़ नहीं होता है वहा अडौएका वृक्षही पेड गिना जाता है ॥ ६९ ॥

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७० ॥

और दूसरे यह अपना है या पराया है, यह अल्पबुद्धियोंकी गिनती है । उदारचरित वालोंको तो सब पृथ्वीही कुटुब है ॥ ७० ॥

अपरं च,—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥ ७३ ॥

और दूसरे-विवाहादि उत्सवमें, आपत्तिमें, अकालमें, राज्यके पलटनेमें, राजद्वारमें तथा समशानमें, जो साथ रहता है वह बान्धव है ॥ ७३ ॥

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्धः।' ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः। तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि? मित्र! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्येतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं दृष्ट्वोवाच—'सखे! किमेतत्?' मृगेणोक्तम्-'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत्,

सियार जालको बार बार देख सोचने लगा-'यह बड़ा कड़ा बंधा है', और बोला-'मित्र! ये फंदे तातके बने हुए हैं, इसलिये आज ऐतवारके दिन इन्हें दातोंसे कैसे छुऊं? मित्र! जो बुरा न मानो तो प्रात काल जो कहोगे सो करूंगा'। ऐसा कह कर उसके पासही वह अपनेको छिपा कर बैठ गया। पीछे वह कौवा सांझको मृगको नहीं आया देख कर इधर उधर ढूढने लगा और इस प्रकार उसे (बंधनमें) देख कर बोला-'मित्र! यह क्या है?' मृगने कहा-'मित्रका कहा नहीं माननेका यह फल है,

तथा चोक्तम्,—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत्संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः' ॥ ७४ ॥

जैसा कहा है कि-जो मनुष्य अपने हितकारी मित्रोंका वचन नहीं सुनता है उसके पासही विपत्ति है, और वह अपने शत्रुओंको प्रसन्न करने वाला है' ॥७४॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः क्वास्ते?' मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव'। काको ब्रूते—'उक्तमेव मया पूर्वम्;

कौवा बोला-'वह ठगिया कहा है?' मृगने कहा-'मेरे मासका लोभी यहाही बैठा है'। कौवा बोला-'मैंने पहिलेही कहा था,—

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७५ ॥

'मेरा कुछ अपराध नहीं है' अर्थात् मैंने इसका कुछ नहीं बिगाड़ा है, अत एव यहभी मेरे सग विश्वासघात न करेगा यह बात कुछ विश्वासका कारण नहीं है। क्योंकि गुण और दोषको विनाविचारे शत्रुता करने वाले नीचोंसे सज्जनोंको अवश्य भय होताही है ॥ ७५ ॥

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ ७६ ॥

है वैसेही यहभी गिरता है। जैसे दुष्ट पीठ पीछे बुराई करता है वैसेही यह भी पीठमें काटता है। जैसे दुष्ट कानके पास मीठी २ बात करता है वैसेही यह भी कानके पास मधुर विचित्र शब्द करता है। और जैसे दुष्ट आपत्तिको देख कर निडर हो बुराई करता है वैसेही मच्छर भी छिद्र अर्थात् रोमके छेदमें प्रवेश कर काटता है ॥ ८१ ॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम्' ॥ ८२ ॥

और दुष्ट मनुष्यका प्रियवादी होना यह विश्वासका कारण नहीं है। उसकी जीभके आगे मिठास और हृदयमें हालाहल विष भरा है' ॥ ८२ ॥

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसि।' मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः! स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा पाशान्ग्रहीतुं सयत्नो बभूव। ततः काकशब्दं श्रुत्वा मृगः सत्वरमुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो हतः।

पीछे प्रातःकाल कौवेने उस खेत वालेको लकडी हाथमें लिये उस स्थान पर आता हुआ देखा उसे देख कर कौवेने मृगसे कहा—'मित्र हरिण! तू अपने शरीरको मरेके समान दिखा कर पेटको हवासे फुला कर और पैरोंको ठिठिया कर बैठ जा। जब मैं शब्द करूं तब तू झट उठ कर जल्दी भाग जाओ' मृग उसी प्रकार कौवेके वचनसे पड गया। फिर खेत वालेने प्रसन्नतासे आंख खोल कर उस मृगको इस प्रकार देखा 'आहा! यह तो आपही मर गया' ऐसा कह कर मृगकी फांसीको खोल कर जालको समेटनेका यत्न करने लगा. पीछे कौवेका शब्द सुन कर मृग शीघ्र उठ कर भाग गया. इसको देख उस खेत वालेने ऐसी फेंक कर लकडी मारी कि उससे सियार मारा गया;

तथा चोक्तम्,—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८३ ॥

जैसा कहा है—प्राणी तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष, और तीन दिनमें, अधिक पाप और पुण्योंका फल यहाही भोगता है ॥ ८३ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—"भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः" इत्यादि' ॥

इसी लिये मैं कहता हूं—"भोजन और भोजन करने वालेकी प्रीति" इत्यादि'।

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत्।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९० ॥

जो बात नहीं हो सकती है वह कदापि नहीं हो सकती है, और जो हो सकती है वह होही सकती है, जैसे पानी पर गाड़ी नहीं चलती और जमीन पर नाव नहीं चल सकती है ॥ ९० ॥

अपरं च,—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम्' ॥ ९१ ॥

और दूसरे—जो मनुष्य अधिक प्रयोजनसे शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है उसके जीनेका अंत आपहुँचा है ॥ ९१ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वम्। तथापि मम चैतावान्संकल्पस्त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयमिति। नो चेदनाहारेणात्मानं व्यापादयिष्यामि।

लघुपतनक कौवा बोला—'मैंने सब सुन लिया—तोभी मेरा इतना संकल्प है कि तेरे संग मित्रता अवश्य करनी चाहिये. नहीं तो भूखा मर अपघात करूंगा.

तथा हि,—

मृद्घटवत्सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु संधेयः ॥ ९२ ॥

और देख—दुर्जन मनुष्य मट्टीके घडेके समान सहज टूट जा सकता है और फिर उसका जुड़ना कठिन है और सज्जन सोनेके घडेके समान है कि कभी टूट नहीं सकता और जो टूटे भी तो शीघ्र जुड़ सकता है ॥ ९२ ॥

किंच,—

द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥ ९३ ॥

और सोना, चांदी आदि धातुओंका गलानेसे, पशुपक्षियोंका पूर्वजन्मके संस्कारसे, मूर्खोंका भय और लोभसे, और सज्जनोंका केवल दर्शनसेही मेल होता है ॥ ९३ ॥

किं च,—

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९४ ॥

और सज्जन पुरुष नारियलके समान बाहरसे दीखते हैं अर्थात् ऊपरसे सख्त और भीतरसे मीठे, और दुर्जन बेरफलके आकारके समान बाहरहीसे मनोहर होते हैं ॥ ९४ ॥

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम्।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९५ ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९० ॥

जो बात नहीं हो सकती है वह कदापि नहीं हो सकती है, और जो हो सकती है वह होही सकती है, जैसे पानी पर गाड़ी नहीं चलती और जमीन पर नाव नहीं चल सकती है ॥ ९० ॥

अपरं च,—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम्' ॥ ९१ ॥

और दूसरे–जो मनुष्य अधिक प्रयोजनसे शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है उसके जीनेका अंत आपहुँचा है ॥ ९१ ॥

लघुपतनको ब्रूते–'श्रुतं मया सर्वम् । तथापि मम चैतावान्संकल्पस्त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयमिति । नो चेदनाहारेणात्मानं व्यापादयिष्यामि ।

लघुपतनक कौवा बोला–'मैंने सब सुन लिया–तोभी मेरा इतना संकल्प है कि तेरे संग मित्रता अवश्य करनी चाहिये. नहीं तो भूखा मर अपघात करूंगा.

तथा हि,—

मृद्घटवत्सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु संधेयः ॥ ९२ ॥

और देख—दुर्जन मनुष्य मट्टीके घड़ेके समान सहज टूट जा सकता है और फिर उसका जुड़ना कठिन है. और सज्जन सोनेके घटेके समान है कि कभी टूट नहीं सक्ता और जो टूटे भी तो शीघ्र जुड़ सकता है ॥ ९२ ॥

किंच,—

द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥ ९३ ॥

और सोना, चादी आदि धातुओंका गलानेसे, पशुपक्षियोंका पूर्वजन्मके सस्कारसे, मूर्खोंका भय और लोभसे, और सज्जनोंका केवल दर्शनसेही मेल होता है ॥ ९३ ॥

किं च,—

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९४ ॥

और सज्जन पुरुष नारियलके समान बाहरसे दीखते हैं अर्थात् ऊपरसे सख्त और भीतरसे मीठे, और दुर्जन बेरफलके आकारके समान बाहरहीसे मनोहर होते हैं ॥ ९४ ॥

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९५ ॥

अपरं च,—

अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०० ॥

और दूसरे—निष्कपट चित्त वालेकी मित्रता औरही भातिकी होती है और जिसका हृदय शठतासे विगड़ रहा है उसकी वाणी औरही प्रकारकी होती है ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद्दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०१ ॥

दुर्जनोंके मनमें कुछ, वचनमें और काममे कुछ, और सज्जनोंके जीमे, वचनमें और काममें एक वात होती है ॥ १०१ ॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव ।' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गतः । ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैर्विश्रम्भालापैश्च कालोऽतिवर्तते ।

इसलिये तेराही मनोरथ होय ।' यह कह कर हिरण्यक मित्रता करके भाति भातिके भोजनसे कौवेको सतुष्ट करके विल्में घुस गया । और कौवाभी अपने स्थानको चला गया । उस दिनसे उन दोनोंका आपसमें भोजनके देने–लेनेसे, कुशल पूछनेसे और विश्वासयुक्त वातचीतसे समय कटने लगा ।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे ! कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि ।' हिरण्यको ब्रूते–'मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?

एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा–'मित्र ! इस स्थानमें बडी कष्टकल्पनासे भोजन मिल्ता है, इस लिये इस स्थानको छोड़ कर दूसरे स्थानमें जाया चाहता हू' । हिरण्यकने कहा–'मित्र ! कहा जाओगे ?

तथा चोक्तम् ;—

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्' ॥ १०२ ॥

ऐसा कहा है कि–बुद्धिमान् एक परसे चलता है और दूसरेसे ठहरता है । इसलिये दूसरे स्थान निश्चय किये विना पहिला स्थान नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १०२ ॥

वायसो ब्रूते–'अस्ति सुनिरूपितस्थानम् ।' हिरण्यकोऽवदत्–'किं तत् ?' वायसो ब्रूते—'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः कच्छपो धार्मिकः प्रतिवसति ।

कौवा बोला—'एक अच्छी भाति देखा भाला स्थान है' । हिरण्यक बोला—'कौनसा है ?' कौआ कहने लगा कि–'दण्डकवनमें कर्पूरगौर नाम एक सरोवर है, उसमें मन्थरनाम एक धर्मशील कछुआ मेरा वड़ा पुराना प्यारा मित्र रहता है.

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥ १०८ ॥

ब्राह्मणोंको अग्नि, चारों वर्णोंको ब्राह्मण, स्त्रियोंको पति और सबोंको अभ्यागत दा पूजनीय है ॥ १०८ ॥

यसोऽवदत्—'सखे मन्थर! सविशेषपूजामस्मै विधेहि। यतो- र पुण्यकर्मणा धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिक- जः। एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न दाचित्कथयितुं समर्थः स्यात्।' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं र्णितवान्। मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—'भद्र! आत्मनो र्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि।' हिरण्यकोऽवदत्—'कथ- मि। श्रूयताम्,—

कौआ बोला—'मित्र मन्थर! इसका अधिक सत्कार कर, क्योंकि यह पुण्या- ओंका मुखिया और करुणाका समुद्र हिरण्यक नाम चूहोंका राजा है। इसके गोंकी बड़ाई दो सहस्र जीभोंसे शेष नागभी कभी नहीं कर सकता है'। यह ह कर चित्रग्रीवका वृत्तान्त कह सुनाया। मन्थर बड़े आदरसे हिरण्यकका त्कार करके पूछने लगा—'हे मित्र! इस निर्जन वनमें अपने आनेका भेद तो हो'। हिरण्यक बोला—'मैं कहता हूं, सुनो—

॥ कथा ४ ॥

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति। स च भोजनावशिष्टभिक्षा- सहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति। अहं च तद- मुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः। तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं र्जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। वीणाकर्ण उवाच— सखे! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्?' चूडाकर्णे- नोक्तम्—'मित्र! नाहं विरक्तः। किंतु पश्यायं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति।' वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याह—'कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद्दूरमुत्पतति? तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम्।

चम्पका नाम नगरीमें सन्यासियोंकी एक वस्ती है। वहां चूडाकर्ण नाम सन्यासी रहता था। और वह भोजनसे बचेखुचे भिक्षाके अन्नसहित भिक्षा- पात्रको खूंटीपर टांग कर सोजाया करता था। और मैं उस भोजनके पदार्थको उछल उछल कर नित्य खाया करता था। उसके उपरान्त उसका प्रिय मित्र वीणाकर्ण नाम सन्यासी आया। चूडाकर्णने उसके साथ नानाभांतिकी

च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान्।
और वह बूढा पति उस पर अत्यत आसक्त था.

ः,—

घनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ११२ ॥

क्योंकि-प्राणधारियोंको धन और जीवनकी बडी आशा होती है, लेकिन बूढे को तरुण स्त्री प्राणोंसेभी अधिक प्यारी होती है ॥ ११२ ॥

नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम् ॥ ११३ ॥

बूढा मनुष्य न तो विषयोंको भोग सकता है और न त्यागभी कर सकता । जैसे दतहीन कुत्ता हड्डीको चबा नहीं सकता है, केवल जीभसे चाटता ॥ ११३ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलमर्यादा केनापि णिक्पुत्रेण सहानुरागवती बभूव।
फिर उस लीलावतीने यौवनके मदसे अपनी कुलकी मर्यादाको छोड किसी नियेके पुत्रसे प्रेमवश हुई.

तः,—

स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगति-
गोंष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो वासो विदेशे तथा।
संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजाया॰ क्षतिः
पत्युर्वार्धकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियः ॥ ११४ ॥

क्योंकि-स्वतन्त्रता, पिताके घरमें रहना, यात्रा आदि उत्सवमें किसीका सग हेल-मिलना, पुरुषके साथ गप लडाना, नियममें न रहना, परदेशमें रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियोंका सहवासमे रहना, वार वार अपने सच्चरित्रका खोना, पतिका बूढा होना, ईर्षा करना, और स्वामीका परदेशमें रहना ये स्त्रियोंके नाश(बिगडने)के कारण हैं ॥ ११४ ॥

अपरं च,—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट् ॥ ११५ ॥

और दूसरे—मद्यपान, दुष्ट लोगोंका सहवास, पतिका विरह, इधर उधर घूमते रहना, दूसरेके घरमें सोना अगर रहना, ये छ स्त्रियोंके दूषण हैं ॥ ११५ ॥

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ ११६ ॥

हे नारद! (व्यभिचारके लिये) एकात स्थान, मौका और प्रार्थना करने वाला मनुष्य इनके न होनेसे स्त्रियोंका पतिव्रतधर्म रहता है ॥ ११६ ॥

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ ११७ ॥

ईयमेनमुपगूढवती' इति ततस्तया कुटन्या तत्कारणं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता, अतोऽहं ब्रवीमि—'अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि । मूषिकवलोपष्टम्भेन केनापि कारणेनात्र भवितव्यम् ।'

बूढे पतिका अनायास आलिंगन देख कर पास बैठने वाली कुटनी चिंता करने लगी कि, 'यह जवान औरत इस बूढेको क्यों भला लिपट गई ?' फिर उस कुटनीने उसका कारण जान कर उस लीलावतीको अकेलेमें डाटा, इसलिये मैं कहता हूं "अचानक युवा स्त्रीने वृद्धको" इत्यादि ॥ चूहेको बलका अहंकार यहा पर भी किसी न किसी कारणसेही है ॥

कारणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव भविष्यति ।

थोडी देर विचार कर सन्यासीने कहा—'इसमें धनकी अधिकताका कारण होगा,

यतः,—

धनवान्बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते' ॥ १२३ ॥

क्योंकि—सर्वत्र, ससारमें सब मनुष्य धनसेही सदा बलवान् होते हैं और राजाओंकी प्रभुताकी जड धनही होता है ॥ १२३ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन विवरं खनित्वा चिरसंचितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः ।

फिर कुदाली ला कर उसने बिलेको खोद कर मेरा बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ धन ले लिया । उसी दिनसे अपनी सामर्थ्यसे हीन, बल और उत्साहसे रहित अपना आहारभी ढूंढनेके अयोग्य मुझे डरके मारे धीरे धीरे चलते हुएको चूडाकर्णने देखा ॥

ततस्तेनोक्तम्—

'धनेन बलवाँल्लोके धनाद्भवति पण्डितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ १२४ ॥

फिर उसने कहा कि, दुनियामें आदमी धनसे बलवान् और धनसेही पण्डित होता है ॥ इस पापी चूहेको देखो (धनहीन होनेसे) अपनी जातिके समान हो गया ॥ १२४ ॥

किं च,—

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ १२५ ॥

और धनसे रहित बुद्धिहीन मनुष्यके तो सब काम बिगड़ जाते हैं, जैसे गरमीकी ऋतुमें छोटी छोटी नदिया (सूख जा कर बिगड़ जाती हैं) ॥ १२५ ॥

औरभी—आयु, धन, घरका भेद, गुप्त बात, मैथुन, औषधि, तप, दान और मान, इन नौ बातोंको यत्नसे गुप्त रखना चाहिये ॥ १३१ ॥

था चोक्तम्,—

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम् ॥ १३२ ॥

जैसा कहा है कि—प्रारब्धके विमुख होने पर और पुरुषार्थ और यत्नके फल होने पर धैर्यवान् दरिद्री मनुष्यको वनको छोड़ और कहां सुख धरा है? ाने उसको स्वदेश छोड़ कर कहाही वनमे जाना यही उचित है) ॥ १३२ ॥

न्यच्च,—

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥ १३३ ॥

और दूसरे—उदार पुरुष मर जाय पर कृपणता नहीं करता है (लाचारी हीं बताता है) जैसे अग्नि भले बुझ जाय, पर ठंडी नहीं होती है ॥ १३३ ॥

कें च,—

कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १३४ ॥

और पुष्पोंका गुच्छेके समान उदार मनुष्यकी दो तरहकी प्रकृति होती है. कि या तो सबके शिर पर रहे या वनमें कुह्मला जाय ॥ १३४ ॥

यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदतीव गर्हितम् ।

और जो यहा याचना कर जीना है वहभी अच्छा नहीं है,

यतः—

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥ १३५ ॥

क्योंकि—धनहीन मनुष्य प्राणोंको अग्निमें झोंक दे सो अच्छा, परन्तु अपने मानको छोड़ कर कृपण मनुष्यसे याचना करना अच्छा नहीं है ॥ १३५ ॥

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते
निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १३६ ॥

और निर्धनतासे मनुष्यको लज्जा होती है, लज्जासे पराक्रम नष्ट हो जाता है, पराक्रम न होनेसे अपमान होता है, अपमान होनेसे दुःख पाता है, दुःखसे शोक करता है, शोकसे बुद्धिहीन हो जाता है, और बुद्धि न होनेसे नाश हो जाता है। अहो! निर्धनता सब आपत्तियोंका स्थान है ॥ १३६ ॥

किं च,—

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।

यह सोच करभी लोभसे फिर उसका धन लेनेकी हठ करी।

तथा चोक्तम्,—

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १४२ ॥

जैसा कहा है—लोभसे बुद्धि चल जाती है, लोभही तृष्णाको बढाता है, और तृष्णासे दुखी मनुष्य इस लोक और परलोकमें कष्ट पाता है ॥ १४२ ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्—

फिर उस वीणाकर्णने धीरे धीरे मुझ चलते हुएको एक सडे बासका टटोंगा मारा, और मैं चिंता करने लगा—

धनलुब्धो ह्यसंतुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १४३ ॥

जिसको संतोष नहीं है उसको सब आपत्तिया ही हैं, क्योंकि वह धनका लोभी अप्रसन्न, दुचित्ता और अजितेन्द्री हो जाता है ॥ १४३ ॥

तथा च,—

सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १४४ ॥

और—जिसका मन संतोषं है उसको सब संपत्तिया हैं जैसे पैरमें जूता पहरे हुयेको सब पृथ्वी चर्ममयी दीखती है ॥ १४४ ॥

अपरं च,—

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १४५ ॥

और दूसरे—संतोषरूपी अमृतसे अघाये हुए शांतचित्त वालोंको जो सुख है, वह सुख इधर उधर फिरने वाले धनके लोभियोंको कहा धरा है ॥ १४५ ॥

किंच,—

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १४६ ॥

और—जिसने आशाको पीछे कर निराशाका सहारा लिया है, उसीने पढा, उसीने सुना, और उसीने सब कुछ कर लिया ॥ १४६ ॥

अपि च,—

असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथाम्।
अनुक्तक्लीववचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १४७ ॥

औरभी—जिसने धनवान्के द्वारकी सेवा नहीं की, विरहके दुखको नहीं देखा, और कभी दीन वचन मुखसे नहीं कहे, ऐसे किसी मनुष्यका जीना धन्य है ॥ १४७ ॥

हेरना अच्छा है पर भाई बन्धुओंके बीचमे धनहीन जीना अच्छा नहीं ॥ १५३ ॥

तोऽस्सत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्यानुगृहीतः। अधुना पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

फिर मेरे पुण्यके उदयसे इस मित्रने परम स्नेहसे मेरा आदर किया और अब ण्यकी रीतिसे तुम्हारा आश्रय मुझे स्वर्गके समान मिल गया.

यतः,—

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सुजनैः सह ॥ १५४ ॥

क्योंकि—ससाररूपी विषवृक्षके दोही रसीले फल हैं अर्थात् एक तो व्यरूपी अमृतके रसका स्वाद और दूसरा सज्जनोंका सग ॥ १५४ ॥

न्थर उवाच—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १५५ ॥

मथर बोला–धन तो चरणोंकी धूलिके समान है, यौवन पहाड़की नदीके वेगके समान है, आयु चचल जलकी बिन्दुके समान चपल है और जीवन फेन (झाग)के समान है, इसलिये जो निर्बुद्धि स्वर्गकी आगलको खोलने वाले धर्मको नहीं करता है वह पीछे बुढापेमें पछता कर शोककी अग्निसे जलाया जाता है ॥ १५५ ॥

युष्माभिरतिसंचयः कृतः। तस्यायं दोषः, शृणु,—

तुमने बहुतसा सचय किया था उसका यह दोष है ॥ सुनो,–

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५६ ॥

गभीर सरोवरमें भरे हुए जलके चारों ओर निकलनेके (वारवार जल निकाल देना जैसा सरोवरकी शुद्धिका कारण है, उसीके) समान कमाये हुए धनका सत्पात्रमे दान करनाही रक्षा है ॥ १५६ ॥

अन्यच्च,—

यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितंपचः।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५७ ॥

और दूसरे—लोभी जिस धनको धरतीमें अधिक नीचे गाड़ता है वह धन पातालमें जानेके लिये पहिलेसेही मार्ग कर लेता है ॥ १५७ ॥

अन्यच्च,—

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम् ॥ १५८ ॥

और जो मनुष्य अपने सुखको रोक कर धनसचय करनेकी इच्छा करता है

गमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान् । ततस्तेन व्यापादितं मृग-
दाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । तेन व्याधेन मृगं भूमौ
धाय शूकरः शरेणाहतः । शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स
ाधो मुष्कदेशे हतः संछिन्न द्रुम इव भूमौ निपपात ।

कल्याणकटक वस्तीमें एक भैरव नाम व्याध (बहलिया) रहता था । वह एक
न मृगको ढूढता ढूढता विंध्याचलकी वनीमें गया । फिर मारे हुए मृगको
कर जाते हुए उसने एक भयकर शूकरको देखा । तब उस व्याधने मृगको भूमि
रख कर शूकरको वाणसे मारा । शूकरनेभी भयकर गर्जना करके उस
धके मुष्कदेशमें ऐसी ठक्कर मारी कि, वह कटे हुए पेड़के समान जमीन पर
र पड़ा ।

नः,—

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः ।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥ १६५ ॥

क्योंकि—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, रोग और पहाड़से गिरना इनमेंसे
सी न किसी वहानेको पा कर प्राणी प्राणोंसे छूटता है ॥ १६५ ॥

अथ तयोः पादास्फालनेन सर्पोऽपि मृतः । अथानन्तरं दीर्घरावो
ाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्याधसर्पशूकरान-
श्यत् । अचिन्तयच्च—'अहो ! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम् ।

उन दोनोंके पैरोंकी रगडसे एक सर्पभी मर गया । इसके पीछे आहारको
ाहने वाले दीर्घराव नाम गीदडने घूमते २ उन मृग, व्याध, सर्प, और शूकरको
रे पडे हुए देखा और विचारा कि 'आहा ! आज तो मेरे लिये वड़ा भोजन
यार है ॥

थवा,—

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् ।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १६६ ॥

अथवा—जैसे देहधारियोंको अनायास दु ख मिलते हैं वैसेही सुखभी मिलते
है, परन्तु इसमें प्रारब्ध वलवान् है ऐसा मानता हू ॥ १६६ ॥

तद्भवतु । एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति ।

जो कुछ हो, इसके मासोंसे मेरे तीन महीने सुखसे कटेंगे ।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १६७ ॥

एक महीनेको मनुष्य (वहलिया) होगा, दो महिनेको हरिण और सूकर होंगे
और एक दिनको सर्प होगा, और आज धनुषकी डोरी चावनी चाहिये ॥ १६७ ॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं
खादामि ।' इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धनं उत्पति-

और दूसरे-शास्त्रकी विधि, उद्योग(पराक्रम)से डरे हुए मनुष्यको कुछ गुण (फायदा) नहीं करती है, जैसे इस संसार में हाथ पर धरा हुआभी दीपक, अन्धेको वस्तु नहीं दिखाता है ॥ १७२ ॥

तदत्र सखे! दशाविशेषे शान्तिः करणीया। एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम्।

इसलिये हे मित्र! इस शेष दशामें शान्ति करनी चाहिये। और इसेभी अधिक क्लेश तुमको नहीं मानना चाहिये।

यतः,—

राजा कुलवधूर्विप्रा मन्त्रिणश्च पयोधराः।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ॥ १७३ ॥

क्योंकि—राजा, कुलकी वधू, ब्राह्मण, मंत्री, स्तन, दंत, केश, नख और मनुष्य ये स्थानसे अलग हुए शोभा नहीं देते हैं ॥ १७३ ॥

इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत्। कापुरुषवचनमेतत्।

यह जान कर बुद्धिमानको अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहिये। यह कायर पुरुषका वचन है।

यतः,—

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १७४ ॥

क्योंकि—सिंह, सज्जन पुरुष, और हाथी, ये स्थानको छोड कर जाते हैं और काक, कायर पुरुष, और मृग, ये वहाही नाश होते हैं ॥ १७४ ॥

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १७५ ॥

वीर और उद्योगी पुरुषोंको देश और विदेश क्या है? अर्थात् जैसा देश वैसाही विदेश। वह तो जिस देशमें रहते हैं उसीको अपने बाहुके प्रतापसे जीत लेते है जैसे सिंह जिस वनमें दांत, नख, पूंछसे प्रहार करता हुआ फिरता है उसी वनमें मारे हुए हाथियोंके रुधिरसे अपनी प्यास बुझाता है ॥ १७५ ॥

अपरं च,—

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥ १७६ ॥

और जैसे मेंडक कूपके पासके पानीके गढ्ढेमें और पक्षी भरे हुए सरोवरको आवे हैं, वैसेही सब सम्पत्तिया अपने आप उद्योगी पुरुषके पास आती हैं ॥ १७६ ॥

आजीविकाके लिये बहुत उद्योग नहीं करना चाहिये, वह तो विधाताने श्चय कर दी है, क्योंकि प्राणीके गर्भसे निकलतेही माताके स्तनोंसे दूध झलने लगता है ॥ १८२ ॥

पि च सखे!,—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १८३ ॥

और भी हे मित्र! जिसने हंसोंको सफेद, तोतोंको हरा और मोरोंको विचित्र नाया है वही तेरी आजीविकाको देगा ॥ १८३ ॥

पर च, सतां रहस्यं शृणु, मित्र!

और दूसरे—हे मित्र! सज्जनोंका गुप्त मंत्र सुन।

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च संपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः? ॥ १८४ ॥

जो कमानेमें दुःख और आपत्तियोंमें संताप करते हैं, और अधिक बढनेसे दाध कर देते हैं ऐसे धन कैसे सुखदायक हो सकते हैं? ॥ १८४ ॥

पर च,—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १८५ ॥

और धर्मके लिये जिसको धनकी इच्छा है, उनको धनकी लालसा न होना अच्छा है, क्योंकि कीचडको (छू कर) धोनेसेभी, उनका दूरसे स्पर्श न करनाही अच्छा है ॥ १८५ ॥

तः,—

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १८६ ॥

क्योंकि—जैसे आकाशमें पक्षी, पृथ्वी पर सिंह आदि, और जलमें मगर आदि मांसको खाते हैं, वैसेही सर्वत्र धनवान् (ज्वारी चोर इत्यादिका भोजन) है, अर्थात् ये उसे लूटते ठगते हैं ॥ १८६ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ १८७ ॥

धनवानोंको राजा, जल, अग्नि, चोर, और अपने जनोंसे, हमेशा ऐसा भय रहता है कि जैसा प्राणियोंको मृत्युसे ॥ १८७ ॥

तथा हि,—

जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम्।
इच्छासंपद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥ १८८ ॥

और (मनुष्यको) जन्म लेनेमेंही बहुत क्लेश है, इससे अधिक [illegible]
दुःख होगा कि जिसमें इच्छाके अनुसार संपत्ति नहीं है और जिसमें इ[illegible]
दूर होती है ॥ १८८ ॥

अन्यच्च भ्रातः ! शृणु,—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १८९ ॥

और दूसरे—हे भाई ! सुनो—पहिले तो धनका मिलना कठिन, और मि[illegible]
जाय तो फिर उसकी रखवाली कष्टसे होती है । और मिले हुए धनका [illegible]
मृत्युके समान है, इसलिये इस(धनलाभ)की चिन्ता न करनी चाहिये ॥१८[illegible]

तृष्णां चेत् परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ॥ १९[illegible]

और इस संसारमें तृष्णाको त्याग देनेसे कौन दरिद्री और कौन धनवा[illegible]
और जो उसको अवकाश दिया सोही सेवकाई सिर पर बैठी है ॥ १९० ॥

अपरं च,—

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १९१ ॥

और जब जिस वस्तुकी इच्छा होती है तब [illegible] आशा [illegible]
और जब वह वस्तु किसी उपायसे मिल जाय तब इच्छा निवृत्त होती है ॥१९[illegible]

किं बहुना पक्षपातेन ? मयैव सहात्र कालो नीयताम् ।

और मेरे अधिक पक्षपातसे क्या है ? मेरेही साथ यहां समय बिताओ,

यतः,—

रः,—

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ १९४ ॥

पृथ्वी पर पुरुषोंमें वही एक प्रशसा पानेके योग्य है, वही उत्तम सज्जन पुरुष और वही धन्य है कि जिसके पाससे याचक अथवा शरणागत लोक निराश कर विमुख नहीं फिर जाते हैं ॥ १९४ ॥

वं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः संतुष्टाः सुखं निवसन्ति'।

तब वे इस प्रकार अपने इच्छानुसार खाते-पीते खेलते-कूदते संतोष कर बसे रहने लगे ॥

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मिलितः। ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य भयं संचिन्त्य मन्थरो लं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः। काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः। तो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम्। पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः। न्थरेणोक्तम्—'भद्रम्, मृग! स्वागतम्। स्वेच्छयोदकाद्याहारोनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम्।' चित्राङ्गो ते—'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणागतः। भवद्भिः सह त्र्यमिच्छामि।' हिरण्यकोऽवदत्—'मित्रत्वं तावदस्माभिः सह वताऽयत्नेन मिलितम्।

फिर एक दिन चित्रांग नाम मृग किसीके डरके मारे उनसे आ कर मिला. सके पीछे मृगको आता हुआ देख भयको सोच मन्थर तो पानीमें घुस गया, हा बिलमें चला गया और काकभी उड कर पेड पर जा बैठा। फिर लघुपतनकने रसे निर्णय करके कि, भयका कोईभी कारण नहीं है यह विचारा। पीछे सके वचनसे आकर सब मिल कर वहाही बैठ गये। मन्थरने कहा—'कुशल हो। मृग! तुम्हारा आना अच्छा हुआ। अपनी इच्छानुसार जल आहार आदि ोग करो अर्थात् खाओ, पीओ और यहा रह कर इस वनको सनाथ करो'। चित्राग बोला—'व्याधके डरसे मैं तुम्हारी शरण आया हू और तुम्हारे साथ मित्रता किया चाहता हू। हिरण्यक बोला—'मित्रता तो हमारे साथ तुम्हारी अनायास हो गई है,

यतः,—

औरसं कृतसंबन्धं तथा वंशक्रमागतम्।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १९५ ॥

क्योंकि–मित्र चार प्रकारके होते हैं, एक तो औरस अर्थात् जन्मसेही हों जैसे पुत्रादि, और दूसरे विवाहादि सबन्धसे हो गये हों और तीसरे कुल-परम्परा से आए हुए हों, और चौथे वे जो आपत्तियोंसे बचावें ॥ १९५ ॥

और (मनुष्यको) जन्म लेनेमेंही बहुत क्लेश है, इससे अधिक और दु ख होगा कि जिसमें इच्छाके अनुसार सपत्ति नहीं है और जिसमें इच्छा दूर होती है ॥ १८८ ॥

अन्यच्च भ्रातः ! शृणु,—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १८९

और दूसरे–हे भाई ! सुनो–पहिले तो धनका मिलना कठिन, और मि जाय तो फिर उसकी रखवाली कष्टसे होती है। और मिले हुए धनक मृत्युके समान है, इसलिये इस(धनलाभ)की चिन्ता न करनी चाहिये ॥१

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ॥ १९

और इस ससारमें तृष्णाको त्याग देनेसे कौन दरिद्री और कौन धनवान और जो उसको अवकाश दिया सोही सेवकाई शिर पर बैठी है ॥ १९० ॥

अपर च,—

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १९१

और जब जिस वस्तुमें इच्छा होती है तब उसके लाभकी आशा होव और जब वह वस्तु किसी उपायसे मिल जाय तब इच्छा निवृत्त होती है ॥१९

किं बहुना पक्षपातेन ? मयैव सहात्र कालो नीयताम्।

और मेरे अधिक पक्षपातसे क्या है ? मेरेही साथ यहां समय बिताओ,

यतः,—

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्' ॥ १९

क्योंकि—महात्माओंका स्नेह मरने तक, क्रोध क्षणमात्र तक और परि केवल सगरहित होता है अर्थात् कुछ बुराई नहीं करते हैं ॥ १९२ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते–'धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा श्ला गुणोऽसि।

यह सुन कर लघुपतनक बोला—'हे मन्थर ! तुम धन्य हो, और प्रशसनीय गुणवाले हो !

यतः,—

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः ॥ १९३ ॥

क्योंकि—सज्जनही सज्जनोंकी आपत्तिको सर्वदा दूर करनेके योग्य होते हैं। कीचड़में फँसे हुए हाथियोंके निकालनेके लिये हाथीही समर्थ होते हैं ॥ १९

:,—

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ १९४ ॥

पृथ्वी पर पुरुषोंमें वही एक प्रशंसा पानेके योग्य है, वही उत्तम सज्जन पुरुष और वही धन्य है कि जिसके पाससे याचक अथवा शरणागत लोक निराश कर विमुख नहीं फिर जाते हैं ॥ १९४ ॥

ड्वं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः संतुष्टाः सुखं निवसन्ति' ।

तब वे इस प्रकार अपने इच्छानुसार खाते-पीते खेलते-कूदते संतोष कर बसे रहने लगे ॥

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मि-तः । ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य भयं संचिन्त्य मन्थरो लं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः । काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः । तो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचि-म् । पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । न्थरेणोक्तम्—'भद्रम्, मृग ! स्वागतम् । स्वेच्छयोदकाद्याहारो-नुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम् ।' चित्राङ्गो ते—'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणागतः । भवद्भिः सह ख्यमिच्छामि ।' हिरण्यकोऽवदत्—'मित्रत्वं तावदस्माभिः सह वताऽयत्नेन मिलितम् ।

' फिर एक दिन चित्रांग नाम मृग किसीके डरके मारे उनसे आ कर मिला. उके पीछे मृगको आता हुआ देख भयको सोच मन्थर तो पानीमें घुस गया, हा बिलेमें चला गया और काकभी उड कर पेड़ पर जा बैठा । फिर लघुपतनकने रसे निर्णय करके कि, भयका कोईभी कारण नहीं है यह विचारा । पीछे सके वचनसे आकर सब मिल कर वहाही बैठ गये । मन्थरने कहा–'कुशल हो । मृग ! तुम्हारा आना अच्छा हुआ । अपनी इच्छानुसार जल आहार आदि ोग करो अर्थात् खाओ, पीओ और यहा रह कर इस वनको सनाथ करो' । त्रांग बोला–'व्याधके डरसे मैं तुम्हारी सरण आया हू और तुम्हारे साथ ित्रता किया चाहता हूं । हिरण्यक बोला–'मित्रता तो हमारे साथ तुम्हारी नायास हो गई है,

तः,—

औरसं कृतसंबन्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १९५ ॥

क्योंकि–मित्र चार प्रकारके होवे हैं, एक तो औरस अर्थात् जन्मसेही हों से पुत्रादि, और दूसरे विवाहादि संबन्धसे हो गये हों और तीसरे कुल-पर-परा से आए हुए हों, और चौथे वे जो आपत्तियोंसे बचावें ॥ १९५ ॥

तदत्रभवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम्' । तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नतरुच्छायाया मुपविष्टः । अथ मन्थरेणोक्तम्—'सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि ? कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति ?' मृगेणोक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः । स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासित कटको वर्तते । प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसर.समीपे भवितव्य मिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते । तदत्रापि प्रातरवस्थान भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्' । तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'जलाशयान्तर गच्छामि' । काकमृगावप्युक्तवन्तौ—'एवमस्तु' । ततो हिरण्यको विहस्याह—'जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम् । स्थले गच्छतः कः प्रतीकार. ?

इसलिये यहा तुम अपने घरसेभी अधिक आनन्दसे रहो । यह सुन कर मृग प्रसन्न हो अपनी इच्छानुसार भोजन करके तथा जल पी कर जलके पास वृक्षकी छायामे बैठ गया ॥ मन्थरने कहा कि–'हे मित्र मृग ! इस निर्जन वनमें तुम्हें किसने डराया है ? क्या कभी कभी व्याध आ फिरते हैं ?' । मृगने कहा–'कलिङ्ग देशमें रुक्मागद नाम राजा है । और वह दिग्विजय करनेके लिये आ कर चन्द्रभागा नदीके तीर पर अपनी सेनाको टिका कर ठहरा है । और प्रात काल वह यहा आ कर कर्पूरसरोवरके पास ठहरेगा यह उडती हुई बात बहेलियोंके मुखसे सुनी जाती है । इसलिये प्रात काल यहा रहनाभी भयका कारण है। यह सोच कर समयके अनुसार काम करना चाहिये' । यह सुन कर कछुआ डर कर बोला–'मैं तो और सरोवरको जाता हू' । काग और मृगनेभी कहा–'ऐसाही होय अर्थात् चलो' । फिर हिरण्यक हँस कर बोला–'दूसरे सरोवरमें पहुचने पर मथर जीता बचेगा । परतु इसके पटपड़मे चलनेका कौनसा उपाय है ?

यतः,—

अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां मन्त्री परं बलम् ॥ १९६ ॥

क्योंकि–जलके जन्तुओंको जलका, गढमे रहने वालोंको गढका, सिंहादि वनचरोंको अपनी भूमिका, और राजाओंको मन्त्रीका, परम बल होता है ॥१९६॥

सखे लघुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्,

हे सखे लघुपतनक ! इस उपदेशसे वह गति होगी,

स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वाः पीडितं कुचकुड्मलम् ।
वणिक्पुत्रोऽभवद्दु.खी त्वं तथैव भविष्यसि' ॥ १९७ ॥

जैसे कि एक बनियेका पुत्र आपही अपनी स्त्रीके कमलकी कलीके समान कुच (दूसरेको) मसक्ते हुए देख कर दुखी हुआ, वैसेही तुम भी होगे ॥१९७॥

ऊचुः।—'कथमेतत्?' हिरण्यकः कथयति—
वे दोनो पूछने लगे–'यह कथा कैसी है?' हिरण्यक कहने लगा—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा। तेन वीरपुर-
ाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः। स च
हाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्य-
तीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास। ततः स्वहर्म्यं गत्वा
मराकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान्।

कान्यकुब्ज देशमें एक वीरसेन नाम राजा था। उसने वीरपुर नाम नगरमें
ुंगवल नाम राजपुत्रको युवराज कर दिया था। उस बड़े धनवान् तरुणने एक
दन नगरमें फिरते हुए एक नव-यौवनवती लावण्यवती नाम वनियेकी पुत्र-
धूको देखा। फिर अपने राजभवनमें जा कर कामान्ध हो उसके लिये दूती
ेजी.

यतः,—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥

क्योंकि–पुरुष तभी तक अच्छे मार्गमें रहता है, तभी तक इन्द्रियोंको वशमे
रखता है, तभी तक लज्जा रखता है, और तभी तक नम्रताका सहारा करता है,
कि, जब तक सुन्दर सुन्दर स्त्रियोंको भौंहरूपी धनुषसे खींच कर छोड़े गये और
कानके मार्ग तक खींचे गये, धैर्यको तोडने वाले ये नीले पलकवाले नेत्ररूपी बाण
हृदयमें नहीं लगते हैं॥ १९८॥

सापि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्ज-
रितहृदया तदेकचित्ताभवत्।

उस लीलावतीनेभी जिस समयसे उसे देखा था उसी क्षणसे कामदेवके
बाणोंके प्रहारसे जिसका हृदय छिद गया था ऐसी वह उसीके ध्यानमें लौलीन
हो गई।

तथा ह्युक्तम्,—

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥ १९९॥

जैसा कहा भी है—झूठ, साहस, छल, ईर्षा, अत्यन्त लोभ, निर्गुणता और
अशुद्धता, ये दोष स्त्रियोंके स्वभावहीसे होते हैं॥ १९९॥

---

१ यह श्लोक दो पक्षमें लगता है अर्थात् धनुष और स्त्रीपक्षमें। धनुष और
भौंहकी, नीलपलक और नीले पखकी, और नेत्र और बाणकी समता है.

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—'अहं पतिव्रता कथ मेतस्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्ते ?

फिर दूतीकी बात सुन कर लावण्यवती बोली-'मैं पतिव्रता हू, पतिके अन करने वाले इस अधर्ममें कैसे प्रवृत्त होऊ ?

यतः,—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ २०० ॥

क्योंकि-जो गृहस्थाश्रमके कार्यमें कुशल, पुत्रवती, पतिको प्राणोंके सम समझने वाली, तथा पतिव्रता है वह 'भार्या' कहाती है ॥ २०० ॥

न सा भार्येति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां संतुष्टाः सर्वदेवताः ॥ २०१ ॥

जिससे पति सतुष्ट न हो वह भार्या नहीं कहाती है, क्योंकि स्त्रियोंके प सतुष्ट होनेसे सब देवता सतुष्ट होते हैं ॥ २०१ ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहमविचारितं करोमि। दूत्योक्तम्-'सत्यतममेतत् ।' लावण्यवत्युवाच-'ध्रुवं सत्यमेतद्' ततो दूतिकया गत्वा तत्तत्सर्वं तुङ्गबलस्याग्रे निवेदितम् । तच्छ्रुत्व तुङ्गबलोऽब्रवीत्—'विषमेषुणा व्रणितहृदयस्तां विना कथमा जीविष्यामि ?' कुट्टन्याह—'स्वामिनानीय समर्पयितव्ये'ति। स प्राह—'कथमेतच्छक्यम् ?' कुट्टन्याह—'उपायः क्रियताम् ।

इसलिये जो जो मेरा पति मुझे आज्ञा देता है उसे बिना विचारे करती दूती बोली-'यह बात बहुत सच्ची है ॥' लावण्यवतीने कहा-'वास्तवमें सच्ची है फिर दूतीने जा कर यह सब समाचार तुगबलके आगे जताया ॥ वह सुन तुगबलने कहा-'तीक्ष्ण बाणसे टुकडे टुकडे हुए हृदय वाला मैं उसके बिना जिऊंगा ?' दूतीने कहा-'उसका पति लाकर सौंप देगा.' उसने कहा-'यह हो सकता है ?' कुटनी बोली-'उपाय कीजिये,

तथा चोक्तम्,—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना' ॥ २०२ ॥

जैसा कहा भी है—जो बात उपायसे हो सकती है वह पराक्रमसे नहीं सकती है, जैसे कीचडके मार्गसे जाते हुए हाथीको सियारने मार डाला' ॥२०

राजपुत्रः पृच्छति—'कथमेतत् ?' सा कथयति—

राजपुत्र पूछने लगा-'यह कथा कैसी है ?' वह कहने लगी—

॥ कथा ८ ॥

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म—'यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते तदास्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भविष्यति ।' तत्रैके वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साध

ाव्यम्।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा ाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु'। हस्ती —'कस्त्वम्? कुतः समायातः?' सोऽवदत्—'जम्बुकोऽहम्। ्वेनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः यद्विना ावस्थातुं न युक्तम्, तदात्राटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्व- मिगुणोपेतो निरूपितः।

ब्रह्मवनमें कर्पूरतिलक नाम हाथी था। उसको देख कर सब गीदड़ोंने सोचा ् यह किसी उपायसे मारा जाय तो उसकी देहसे हमारा चार महीनेका भोजन ।' उनमेंसे एक बूढ़े गीदड़ने इस बातकी प्रतिज्ञा करी–'मैं इसे बुद्धिके बलसे ाा। फिर उस धूर्तने कर्पूरतिलक हाथीके पास जा कर साष्टांग प्रणाम करके –'महाराज! कृपादृष्टि कीजिये।' हाथी बोला—'तू कौन है? कहासे ा है?' वह बोला—'मैं गीदड़ हूं,' सब वनके रहने वाले पशुओंने पचायत े आपके पास भेजा है, कि विना राजाके यहा रहना योग्य नहीं है लिये इस वनके राज्य पर राजाके सब गुणोंसे शोभायमान आपको राजतिलक नेका निश्चय किया है.

ाः,—

यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ २०३ ॥

क्योंकि—जो कुलाचार और लोकाचारमें निपुण होय तथा प्रतापी, धर्मशील, र नीतिमें कुशल हो वह पृथ्वी पर राजा होनेके योग्य होता है ॥ २०३ ॥

पर च पश्य,—

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम्? ॥२०४॥

और देखो—पहिले राजाको ढूढना चाहिये, फिर स्त्री और उसके बाद धनको ढ, क्योंकि राजाके नहीं होनेसे इस दुनियामें कहासे स्त्री और कहासे धन ल सकता है? ॥ २०४ ॥

ान्यच्च,—

पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ २०५ ॥

और दूसरे–राजा, प्राणियोंको मेघके समान जीवनका सहारा है और मेघके ीं बरसनेसे तो लोक जीता रहता है, परन्तु राजाके न होनेसे जी नहीं कता है ॥ २०५ ॥

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याभ्युपैति ॥ २०६ ॥

इस परवश (अर्थात् राजाके आधीन) इस ससारमें बहुधा दडके भ
लोग अपने नियत कार्योंमें लगे रहते हैं और नहीं तो अच्छे आचरणमें न
ध्योंका रहना कठिन है। क्योंकि दडकेही भयसे कुलकी स्त्री दुबले, विक
(अर्थात् लगडे लूले) रोगी या निर्धनभी पतिको स्वीकार करती है ॥ २०,

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन
इत्युक्त्वोत्थाय चलितः। ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिल
शृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः। ततस्तेन हस्तिनोक्तम्-
'सखे शृगाल! किमधुना विधेयम्? पङ्के निपतितोऽहं म्रिये
परावृत्य पश्य'। शृगालेन विहस्योक्तम्-'देव! मम पुच्छकावलम्
कृत्वोत्तिष्ठ। यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूय
मशरणं दुःखम्।

इस लिये, जिसमें लग्नकी घडी न टल जाय शीघ्र आप पधारिये। यह क
उठ कर चला फिर यह कर्पूरतिलक राज्यके लोभमें फँस कर शृगालके पीछे प
दौडता हुआ गाढी कीचडमें फँस गया। फिर उस हाथीने कहा-'मित्र गीदड़
अब क्या करना चाहिये? कीचड़में गिर कर मैं मरता हू। लौट कर देख।' गीदड़
हस कर कहा-'महाराज! मेरी पूंछका सहारा पकड़ कर उठो, जैसा मुझ सरीख
बात पर विश्वास किया तैसा शरणरहित दु ख भुगतो।

तथा चोक्तम्,—

यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।
तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि' ॥ २०७ ॥

जैसा कहा है—जब बुरे सगसे बचोगे तब जानो जिओगे, और जो दुर्ज
सगतमें पडोगे तो मरोगे ॥ २०७ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि-
"उपायेन हि यच्छक्यम्" इत्यादि। ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारु
दत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार। ततोऽसौ तेन
सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः।

फिर बडी कीचडमें फँसे हुए हाथीको गीदडोंने खा लिया। इसलिये मैं क
ता हू-कि "उपायसे जो हो सकता है" इत्यादि फिर उस राजपुत्रने कुटनी
उपदेशसे चारुदत्त नाम बनियेके पुत्रको सेवक बनाया। पीछे इसको उसने स
विश्वासके कार्योंमें नियुक्त कर दिया.

एकदा तेन राजपुत्रेण स्नातानुलिप्तेन कनकरत्नालंकार
धारिणा प्रोक्तम्-'अद्यारभ्य मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम्। तद्
प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय। सा मया यथो
चितेन विधिना पूजयितव्या।' ततः स चारुदत्तस्तथाविध
नवयुवतीमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन्किमयं करो
तीति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतीमस्पृशन्नेव दूर

त्नालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति ।
थ वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववधूः
वण्यवती समानीय समर्पिता । स च तुङ्गवलस्तां हृदयप्रियां
वण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्य निमीलि-
क्षः पर्यङ्के तया सह विललास । तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्र-
खित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः । अतोऽहं
ीमि—"स्वयं वीक्ष्य" इत्यादि । तथा त्वयापि भवितव्यम्'
ते । तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं
लाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः । तेऽपि हिरण्यकादयः
हादनिष्टं शङ्कमाना मन्थरमनुगच्छन्ति । ततः स्थले गच्छन्के-
पि व्याधेन काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः । प्राप्य तं गृहीत्वो-
ाप्य धनुपि बद्ध्वा भ्रमन्क्लेशात्क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं
लितः । अथ मृगवायसमूषकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः ।

एक दिन कुट्टनीके उपदेशसे उस राजपुत्रने न्हा धो कर और देहमे चन्दन
ादि सुगन्ध द्रव्य लगा कर और सुवर्णके रत्नजटित आभूषणोंको पहिर कर
हा-'चारुदत्त! आजसे लेकर एक मास तक मुझे पार्वतीजीका व्रत करना है ।
पलिये आजसे यहां नित्य रातको एक कुलीन जवान स्त्री मुझे ला दिया कर,
उसकी यथोचित रीतिसे पूजा करूंगा' ॥ फिर वह चारुदत्त वैसीही नव-
वान स्त्री ला कर दिया करता था । पीछे आप छुप कर देखता रहता था, कि
ह क्या करता है और वह तुगवल उस जवान स्त्रीको विनाही छुए दूरसे वस्त्र,
भूषण, गन्ध चन्दनादिसे पूजा करके और रखवाला साथ दे कर विदा कर
या करता था । फिर उस वनियेके पुत्रने यह देख विश्वाससे और चित्तमें
भिके मारे अपनी स्त्री लावण्यवती ला कर दे दिया । और उस तुगवलने उसे
ाणप्यारी लावण्यवती जान कर शीघ्रतासे उठ गाढा आलिंगन कर आनन्दसे
ऑखो कुछ बन्द-सा कर पलग पर उसके साथ विलास किया । यह देख कर
नियेका वेटा चित्र लिखेके समान हो कर इस कार्यमें मूर्ख बन अधिक दु खी
आ । इसलिये मैं कहता हू कि, "आप देख कर" इत्यादि । और तुम भी वैसेही
खी होगे ।' उसके हितकारक वचनको न मान कर वडे भयसे मूर्खकी भाति वह
न्थर उस सरोवरको छोड कर चला । वे हिरण्यक आदिभी स्नेहसे विपत्तिकी
ाका करते हुए मन्थरके पीछे पीछे चले । फिर पटपडमें जाते हुए मन्थरको,
ननमें घूमते हुए किसी व्याधसे पाया । वह उसे पा कर और उठा कर धनुपमें
ाध घूमता हुआ क्लेशसे उत्पन्न हुई क्षुधा और प्यासले व्याकुल, अपने घरकी
ओर चला । पीछे मृग, काक और चूहा, ये वडा विषाद करते हुए उसके पीछे
ीछे चले.

ततो हिरण्यको विलपति—

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २०८ ॥

फिर हिरण्यक विलाप करने लगा—'समुद्रके पारके समान निःसीम दुःखके पार जब तक मैं नहीं जाता हूं तब तक मेरे लिये दूसरा दुःख कर उपस्थित हो जाता है, क्योंकि अनर्थ (आपत्ति)के साथ बहुत-से अनर्थ पडते हैं ॥ २०८ ॥

स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ २०९ ॥

स्वभावसे स्नेह करने वाला (अकृत्रिम) मित्र तो प्रारब्धसेही मिलता है जो सच्ची मित्रताको आपत्तियोंमेंभी नहीं छोड़ता है ॥ २०९ ॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे स्वभावजे' ॥ २१० ॥

न मातामें, न स्त्रीमें, न सगे भाईमें, और न पुत्रमें ऐसा विश्वास होता है जैसा स्वाभाविक मित्रमें होता है ॥ २१० ॥

इति मुहुर्विचिन्त्य 'अहो दुर्दैवम् !

ये वारवार सोच कर (बोला)–'अहो दुर्भाग्य है !

यतः,—

स्वकर्मसंतानविचेष्टितानि
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि
जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ २११ ॥

क्योंकि—इस संसारमें अपने पापपुण्योंसे किये गये और समयके उलट पलटसे बदलने वाले सुखदुःख, पूर्वजन्मके किये हुये पापपुण्यके फलके समान मैंने यहांही देख लिये ॥ २११ ॥

अथवेत्थमेवैतत्,—

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ २१२ ॥

अथवा यह ऐसेही है–शरीरके पासही उसका नाश है और संपत्तियां आपत्तियोंका मुख्य स्थान हैं और संयोगके साथ वियोग है, अर्थात् अस्थिर है और उत्पन्न हुआ सब नाश होने वाला है ॥ २१२ ॥

पुनर्विमृश्याह—

'शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं 'मित्र'मित्यक्षरद्वयम् ॥ २१३ ॥

और विचार कर बोला–'शोक, और शत्रुके भयसे बचाने वाला, तथा प्रीति और विश्वासका पात्र, यह दो अक्षरका 'मित्र'रूपी रत्न किसने रचा है? ॥२१३॥

च,—

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम्।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलापाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्'॥२१४॥

और अजनके समान नेत्रोंको प्रसन्न करने वाला, चित्तको आनन्द देने वाला र मित्रके साथ सुखदु खमें साथ देने वाला, अर्थात् दु खमें दु खी, सुखमें सुखी ऐसा मित्र होना दुर्लभ है, और सपत्ति(चलती)के समयमे धन हरने वाले न हर जगह मिलते हैं, परन्तु विपत्कालही उनके परखनेकी कसौटी है'॥२१४॥

इति वहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह–'यावदयं ाधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्।' वूचतुः–'सत्वरं कार्यमुच्यताम्।' हिरण्यको ब्रूते–'चित्राङ्गो लसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि थत्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन लुब्धकेन तत्र च्छपं परित्यज्य मृगमांसार्थिना सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं न्थरस्य वन्धनं छेत्स्यामि। संनिहिते लुब्धके भवद्भ्यां लायितव्यम्।' चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते ाति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथा- धं मृगमपश्यत्। ततः कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं ालितः। तत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य वन्धनं छिन्नम्। । कूर्मः सत्वर जलाशयं प्रविवेश। स मृग आसन्नं तं व्याधं ोलोक्योत्थाय पलायितः। प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत्तरुतलमा- ाति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्य- ारिण.।

इस प्रकार वहुत-सा विलाप करके हिरण्यकने चित्राग और लघुपतनकसे हा–'जव तक यह व्याध वनसे न निकल जाय तव तक मन्थरको छुड़ानेका यत्न रो।' वे दोनों वोले–'शीघ्र कार्यको कहिये।' हिरण्यक वोला–'चित्राग जलके ास जा कर मरेके समान अपना शरीर दिखावे और काक उस पर वैठके चोंचसे ुछ कुछ खोदें, यह व्याध कछुएको अवश्य वहा छोड़ कर मृगके मासका लोभसे ीघ्र जायगा। फिर मैं मन्थरके वधन काट डालूंगा। और सव व्याध ुम्हारे पास आवे तव भाग जाना।' जव चित्राग और लघुपतनकने शीघ्र जा कर ऐसाही किया तव उस व्याधने पानी पी कर एक पेड़के नीचे वैठ कर मृगको उस प्रकार देखा। फिर छुरी लेकर आनदित होकर मृगके पास गया। इतनेहीमें हिरण्यकने आ कर कछुएका वंधन काट डाला। तव वह कछुआ शीघ्र सरोवरमें घुस गया। वह मृग उस व्याधको पास देख उठ कर भाग गया।

जब व्याध लौट कर पेड़के नीचे आया, तब कछुएको न देख कर चिंता लगा—'मेरे समान विना विचार करने वालेके लिये यही उचित था ।

यतः,—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥ २१५ ॥

क्योंकि—जो निश्चितको छोड़ अनिश्चित पदार्थका आसरा करता है निश्चित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, और अनिश्चितभी जाता रहता है' ॥ २

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयः त्यक्तापदः स्वस्थानं गत्वा तथा सुखमास्थिताः ॥

फिर वह अपने प्रारब्धको दोष लगाता हुआ निराश होकर अपने घर मंथर आदिभी सब आपत्तिसे निकल अपने अपने स्थान पर जा कर सुखसे लगे ।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वय सिद्धं नः समीहितम् ।' विष्णुशर्मोवाच—'एतावता भवताम लषितं संपन्नम् ।

पीछे राजपुत्र प्रसन्न होकर कहने लगे—'हमने सब सुना और सुखी हमारा कार्य सिद्ध हुआ ।' विष्णुशर्मा बोले—'इतना आपका मनोरथ पूरा हुआ

अपरमपीदमस्तु—

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाश्चन्द्रार्धचूडामणिः' ॥२

इति हितोपदेशे मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासंग्रहः समाप्तः

यह औरभी होय—सज्जन लोग मित्रको पावें, नगरनिवासी लक्ष्मीको राजा लोग सदा अपने धर्ममें रह कर पृथ्वीको रक्षण करें, आपकी नीति नवव स्त्रीके समान पण्डितोंके चित्तको प्रसन्न करें और भगवान् महादेवजी आ कल्याण करें ॥ २१६ ॥

प० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेश ग्रंथके मित्रलाभ नामक पहि अध्यायका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ शुभम्

हितोपदेशः।

॥ सुहृद्भेदः २ ॥

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः। [illegible]दानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं [illegible]वच्छृणुत,

फिर राजपुत्र बोले कि–'गुरुजी! मित्रलाभ तो हम सुन चुके, अब सुहृद्भेद [illegible] चाहते हैं।' विष्णुशर्मा बोले–'सुहृद्भेद सुनिये,

[illegible]स्यायमाद्यः श्लोकः—

> वर्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने।
> पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

उसका पहिला वाक्य यह है—वनमें सिंह और बैलका बडा स्नेह बढ गया [illegible], उसे धूर्त और अति लोभी गीदडने छुडवा दिया' ॥ १ ॥

[illegible]जपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत्?' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले–'यह कथा कैसे है?' विष्णुशर्मा कहने लगे.

॥ कथा १ ॥

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी। तत्र वर्धमानो नाम [illegible]णिग्निवसति। तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्स[illegible]क्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव।

[illegible] दक्षिण दिशामें सुवर्णवती नाम नगरी है, उसमें वर्धमान नाम एक बनिया [illegible]हता था। उसके पास बहुत-सा धनभी था, परन्तु अपने दूसरे भाईबन्धुओंको [illegible]धिक धनवान् देख कर उसकी यह लालसा हुई कि और अधिक धन इकट्ठा [illegible]रना चाहिये

[illegible]तः,—

> अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते?।
> उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

क्योंकि—अपनेसे नीचे नीचे अर्थात् दरिद्रियोंको देख कर किसकी महिमा [illegible]हीं बढती है? अर्थात् सबको अभिमान बढ जाता है, और अपनेसे ऊपर ऊपर [illegible]र्थात् अधिक धनवानोंको देख कर सब लोग अपनेको दरिद्री समझते हैं ॥२॥

[illegible]परं च,—

> ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम्।
> शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

और दूसरे–जिसके पास बहुत-सा धन है उस ब्रह्मघातक मनुष्यकाभी [illegible]त्कार होता है और चन्द्रमाके समान अतिनिर्मल वंशमें उत्पन्न हुएभी निर्धन मनुष्यका अपमान किया जाता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च,—

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम्।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

और जैसे नवजवान स्त्री बूढे पतिको नहीं चाहती है वैसेही लक्ष्मी निरुद्योगी, आलसी, 'प्रारब्धमें जो लिखा है सो होगा' ऐसा भरोसा चुपचाप बैठने वाले, तथा साहसहीन मनुष्यको नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

अपि च,—

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम्।
संतोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

औरभी आलस्य, स्त्रीकी सेवा, रोगी रहना, जन्मभूमिका स्नेह, संतोष और डरपोकपन ये छ. बातें उन्नतिकी विघ्न करने वाली हैं ॥ ५ ॥

यतः,—

संपदा सुस्थितंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

क्योंकि–जो मनुष्य थोड़ीही संपत्तिसे अपनेको सुखी मानता है, विधि कृतकृत्य होकर उस मनुष्यकी उस संपत्तिको नहीं बढ़ाता है ॥ ६ ॥

अपरं च,—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

और निरुत्साही, आनन्दरहित, पराक्रमहीन तथा शत्रुको प्रसन्न करने वाले ऐसे पुत्रको कोई स्त्री न जने अर्थात् ऐसे पुत्रका जन्म न होनाही अच्छा है ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्,—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात्।
रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

जैसा कहा है—नहीं पाये धनके पानेकी इच्छा करना, पाये हुए धनकी चोरी आदि नाशसे रक्षा करना, रक्षा किये हुए धनको व्यापार आदिसे बढ़ाना और अच्छी तरह बढ़ाए धनको सत्पात्रमें दान करना चाहिये ॥ ८ ॥

यतो लब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव। लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः। अपि च। अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति। अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः।

क्योंकि लाभकी इच्छा करने वालेको धन मिलताही है, एवं प्राप्त हुए पर रक्षा नहीं किये गये खजानेकाभी अपने आप नाश हो जाता है, औरभी यह है कि–बढ़ाया नहीं गया धन कुछ कालमें थोड़ा थोड़ा व्यय हो कर काजलके समान नाश हो जाता है और नहीं भोगा गया भी वह वृथा है।

था चोक्तम्,—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरे-
त्किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

जैसा कहा है—धनसे क्या है? जो न देता है और न खाता है, बलसे ा है? जो वैरियोंको नहीं सताता है, शास्त्रसे क्या है? जो धर्मका आचरण ीं करता है, और आत्मासे क्या है? जो जितेंद्रिय नहीं है ॥ ९ ॥

तः,—

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

क्योंकि—जैसे जलकी एक एक बूदके गिरनेसे धीरे २ घड़ा भर जाता है वही रण सब प्रकारकी विद्याओंका, धनका और धर्मकाभी है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ ११ ॥

दान और भोगके बिना जिसके दिन जाते हैं वह लुहारकी धोंकनीके समान ास लेता हुआभी मरेके समान है ॥ ११ ॥

इति संचिन्त्य नन्दकसंजीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य ाकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः कश्मीरं प्रति।

यह सोच कर नन्दक और संजीवक नाम दो बैलोंको जुएमें जोत कर और कडेको नाना प्रकारकी वस्तुओंसे लाद कर व्यापारके लिये काश्मीरकी ओर गया।

अन्यच्च,—

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

और दूसरे—काजलके क्रम क्रमसे घटनेको और वल्मीक नाम चींटीके सच-यको देख कर, दान, पढ़ना और कामधंधोंमें दिनको सफल करना चाहिये ॥ १२ ॥

यत,—

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्? ॥ १३ ॥

क्योंकि—बलवानोंको अधिक बोझ क्या है? और उद्योग करने वालोंको क्या दूर है? और विद्यावानोंको विदेश क्या है? और मीठे बोलने वालोंका शत्रु कौन है? ॥ १३ ॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये संजीवको भग्नजानुर्निपतितः।

फिर उस जाते हुएका, सुदुर्ग नाम गहरे वनमें, सजीवक घुटना टूटनेसे गिर गया।

तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।
फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

उसे देख कर वर्धमान चिंता करने लगा—'नीति जानने वाला इधर उधर भले ही व्यापार करे परंतु उसको लाभ वही होता है कि जितना विधनाके जीमें है ॥ १४ ॥

किन्तु,—

विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम्।
तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम्' ॥ १५ ॥

परन्तु सब कार्योंका रोकने वाला संदेह त्यागनेके योग्य है, इसीलिये संदेहको छोड़ कर, अपना कार्य सिद्ध करना चाहिये' ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः। ततः संजीवकोऽपि कथंकथमपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः।

यह विचार कर सजीवकको वहा छोड़ कर—फिर वर्धमान आप धर्मपुर नाम नगरमें जा कर एक दूसरे बड़े शरीर वाले बैलको ला कर जुएमें जोत कर चल दिया। फिर सजीवकभी बड़े कष्टसे तीन खुरोंके सहारे उठ खड़ा हुआ।

यतः,—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

क्योंकि—समुद्रमें डूबे हुएकी, पर्वतसे गिरे हुएकी और तक्षक नाम सर्पके डसे हुएकी आयुही रक्षा करती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १७ ॥

जो काल न होय तो सैकडों बाणोंके बिधनेसेभी प्राणी नहीं मरता है और जो काल आ जाय तो कुशाकी नोंकसे छूतेही मर जाता है ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १८ ॥

दैवसे रक्षा किया हुआ, बिना रक्षाके भी ठहरता (बच जाता) है, और अच्छे

र रक्षा किया हुआ, दैवका मारा नहीं बचता है, जैसे वनमें छोड़ा हुआ
यहीनभी जीता रहता है, घर पर उपाय करनेसेभी नहीं जीता है ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारविहारं कृत्वारण्यं
म्यन्हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः
भुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति।

फिर कितनेही दिनोंके बाद संजीवक अपनी इच्छानुसार खा पी कर वनमें
रता फिरता हृष्ट पुष्ट हो कर ऊंचे स्वरसे डकराने लगा, उसी वनमें पिंगलक
। एक सिंह अपनी भुजाओंसे पाये हुए राज्यका सुख भोग रहा था.

था चोक्तम्—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

जैसा कहा है–मृगोंने सिंहका न तो राज्यतिलक किया और न संस्कार किया
तु सिंह अपने आपही पराक्रमसे राज्यको पा कर मृगोंका राजा होना दिखलाता
॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्।
न च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगर्जितमिव संजीवक-
र्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा स चकितः परिवृत्य
स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथा-
वेधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः।
तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक! किमित्य-
यमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते?'
करटको ब्रूते—'मित्र दमनक! अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते।
यदि तथा भवति तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम्?
यतोऽनेन राज्ञा विनापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां
महद्दुःखमनुभूतम्।

और वह एक दिन प्याससे व्याकुल होकर पानी पीनेके लिये यमुनाके किनारे
पर गया। और वहां उस सिंहने नवीन कुऋतुकालके मेघकी गर्जनाके समान
संजीवकका डकराना सुना। यह सुन कर पानीके विना पिये वह घबराया सा
लौट कर अपने स्थान पर आ कर और यह क्या है यह सोचता हुआ चुपका
बैठ गया। और उसके मंत्रीके बेटे दमनक और करटक दो गीदड़ोंने उसे वैसा
बैठा देखा। उसको इस दशामें देख कर दमनकने करटकसे कहा–'भाई करटक!
यह क्या बात है कि, प्यासा स्वामी पानीको विना पिये डरसे धीरे धीरे आ
बैठा है?' करटक बोला–'भाई दमनक! हमारी समझसे तो इसकी सेवाही नहीं
की जाती है। जो ऐसे बैठा भी है तो हमें स्वामीकी चेष्टाका निर्णय करनेसे

क्या प्रयोजन है? क्योंकि इस राजासे विना अपराध बहुत काल तक तिरस्कार किये गये हम दोनोंने बड़ा दुःख सहा है ॥

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २० ॥

सेवासे धनको चाहने वाले सेवकोंने जो किया सो देख कि शरीरकी स्वतन्त्रताभी मूर्खोंने हार दी है ॥ २० ॥

अपरं च,—

शीतवातातपक्लेशान्सहन्ते यान्पराश्रिताः।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

और दूसरे—जो पराये आसरतू हो कर जाड़ा, हवा और धूपमें दुःखोंको सहते हैं उस दुःखके छोटेसे छोटे भागसे तप (स्वल्पही दुःख सहन) करके बुद्धिमान् सुखी हो सकता है ॥ २१ ॥

अन्यच्च,—

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥ २२ ॥

और-स्वाधीनताका होनाही जन्मकी सफलता है, और जो पराधीन होने परभी जीते (कहलाते) हैं तो मरे कौनसे हैं? अर्थात् वेही मरेके समान हैं जो पराधीन हो कर रहते हैं ॥ २२ ॥

अपरं च,—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २३ ॥

और दूसरे-धनवान् पुरुष, आशारूपी ग्रहसे भरमाये गये हुए याचकोंके साथ, इधर आ, चला जा, बैठ जा, खड़ा हो, बोल, चुपका रह इस तरह खेल किया करते हैं ॥ २३ ॥

किं च,—

अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम्।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

और जैसे वेश्या औरोंके लिये सिंगार करती है वैसेही मूर्खोंनेभी धनके लाभके लिये अपनी आत्माको गुणवान् करके पराये उपकारके लिये कर रक्खा है ॥ २४ ॥

किंच,—

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

और जो दृष्टि स्वभावहीसे चपल है और मल, मूत्र आदि नीची वस्तुओं परभी

गेरती है ऐसी स्वामीकी दृष्टिको सेवकलोग बहुत बडी करके मानते हैं ॥ २५ ॥

अपरं च,—

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

और चुपचाप रहनेसे मूर्ख, बहुत बातें करनेमें चतुर होनेसे उन्मत्त अथवा बातून, क्षमाशील होनेसे डरपोक, न सह सकनेसे नीतिरहित (अकुलीन) सर्वदा पास रहनेसे ढीठ, और दूर रहनेसे घमंडी कहलाता है इसलिये सेवारूप धर्म बड़ा कठिन है, जो (सब क्लेश सहन करनेवाले) योगियोंसेभी नहीं हो सकता है २६

विशेषतश्च,—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ? ॥ २७ ॥

और विशेष बात यह है कि—जो उन्नतिके लिये झुकता है, जीनेके लिये प्राणोंको गलाता है, और सुखके लिये दुःखी होता है, ऐसा सेवकको छोड़ और कौन भला मूर्ख हो सकता है ?' ॥ २७ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र ! सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम् ।

यतः,—

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

दमनक बोला—'मित्र ! कभी यह बात मनसेभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि स्वामियोंकी सेवा यत्नसे क्यों नहीं करनी चाहिये, जो सेवासे प्रसन्न हो कर शीघ्र (सेवकके) मनोरथ पूरे कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य,—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी' ॥ २९ ॥

और दूसरे देखो—स्वामीकी सेवा नहीं करने वालोंको चमरके दुलावसे युक्त ऐश्वर्य तथा ऊंचे दंड वाले श्वेत छत्र और घोडे हाथियोंकी सेना कहां धरी है ?' ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते—'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण? यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः ।

करटक बोला—'तोभी हमको इस कामसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि अयोग्य कामोंमें (पड़ना) व्यापार करना सर्वथा त्यागनेके योग्य है ॥

पश्य,—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः' ॥ ३० ॥

देख—जो मनुष्य नहीं करनेके कामोंमें (पडना) व्यापार करना चाहता है व कीलके उखाड़ने वाले वदरकी तरह मर कर धरती पर सोता है ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' करटकः कथयति—

दमनक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' तव करटक कहने लगा।—

॥ कथा २ ॥

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र वलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः। एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः। तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम्। अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"अव्यापारेषु व्यापारम्" इत्यादि' ॥ दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम्।'—करटको ब्रूते—'सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या।

मगध देशमे धर्मारण्यके पास किसी भूमिमे शुभदत्त नामक कायस्थने एक मन्दिर वनवाना आरंभ किया था। वहां आरेसे चीरा हुआ लट्ठा जो कितनीही दूर तक फट रहा था, उस काटके दोनों भागोंके वीचमें वढईने कील ठोंक दी थी। वहा वलवान् वन्दरोंका झुंड खेलता हुआ आया। एक वन्दर मृत्युसे प्रेरित हुएके समान उस लकडीकी खूटीको दोनों हाथोंसे पकड़ कर वैठ गया। वहा उसके लटकते हुए दोनों अंडकोश, उस काटके दोनों भागोंके वीचमें लटक पड़े और फिर उसने स्वभावकी चचलतासे वडे वडे उपाय द्वारा खूटीको खींच लिया, और खूटीको खीचतेही उसके दोनों अंडकोश पिच गये और वह मर गया ॥ इसलिये मैं कहता हूं—"विना कामके कामोंमें पड़ना" इत्यादि' ॥ दमनकने कहा—'तोभी सेवकको स्वामीके कामका विचार अवश्य करना चाहिये॥' करटक वोला—'जो सव काम पर अधिकारी प्रधान मंत्री होय वही करे। क्योंकि सेवकको पराये कामकी चर्चा कभी नहीं करनी चाहिये ॥

पश्य,—

> **पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया।**
> **स विषीदति चीत्काराद्गर्दभस्ताडितो यथा॥ ३१ ॥**

देख,—जो स्वामीके हितकी इच्छासे पराये अधिकारकी चर्चा करता है वह रेंकनेसे मारे गये गधेकी तरह मारा जाता है ॥ ३१ ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' करटको ब्रूते—

दमनक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' करटक कहने लगा।—

॥ कथा २ ॥

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः । स चाभिनववयस्कया वध्वा सह चिरं निधुवनं कृत्वा निर्भरमालिङ्ग्य प्रसुप्तः । तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः । तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति, कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति । अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे! भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि?' कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि । यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति । तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः । यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति ।'

बनारसमें एक कर्पूरपट नामक धोबी रहता था । वह नवजवान अपनी स्त्रीके साथ बहुत काल तक विलास करके, और अत्यन्त छातीसे चिपटा कर सो गया । इसके बाद उसके घरके द्रव्यको चुरानेके लिये चोर अंदर घुसा । उसके आगनमें एक गधा बंधा था और एक कुत्ता भी बैठा था । इतनेमें गधेने उससे कहा—'मित्र! यह तेरा फर्ज है, इसलिये क्यों नहीं ऊंचे शब्दसे भौंक कर स्वामीको जगाता है?' कुत्ता बोला—'भाई! मेरे कामकी चर्चा तुझे नहीं करनी चाहिये, और क्या तू सचमुच नहीं जानता है कि जैसी मैं उनके घरकी रखवाली रातदिन करता हूं, कि जिस कारण यह बहुत कालसे निश्चित होकर मेरे उपयोगको नहीं मानता है? इसलिये आजकल वह मेरे आहार देनेमें भी आदर (फिक्र) कम करता है। क्योंकि विना आपत्तिके देखें स्वामी सेवकों पर थोड़ा आदर करते हैं।

गर्दभो ब्रूते—'शृणु रे बर्बर!

याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः स किंसुहृत् ।'

गधा बोला—'सुन रे मूर्ख! जो कामके समय पर मांगे वह निन्दित सेवक और निन्दित मित्र है।'

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान्संभाषयेद्यस्तु कार्यकाले स किंप्रभुः ॥ ३२ ॥

कुत्ता बोला—'जो काम अटकने पर सेवकोंसे (केवल अपने स्वार्थके खातर) मीठी मीठी बातें करे वह तो निन्दित स्वामी है' ॥ ३२ ॥

यतः,—

आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥ ३३ ॥

क्योंकि आश्रितोंके पालन-पोषणमें, स्वामीकी सेवामें, धर्मकी सेवा (आचरण) करनेमें, और पुत्रके उत्पन्न करनेमें, प्रतिनिधि (एवजी) नहीं होते हैं, अर्थात् ये काम अपने आपही करनेके हैं, दूसरेसे करानेके योग्य नहीं हैं' ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते! पापीयांस्त्वं यद्विपत्तौ

स्वामिकार्य उपेक्षां करोपि । भवतु तावत्, यथा स्वामी जाग रिष्यति तन्मया कर्तव्यम् ।

फिर गधा झुझला कर वोला–'अरे दुष्टवुद्धि ! तू बड़ा पापी है, कि विपत्ति स्वामीके काममें अनादर करता है । जो हो सो हो, जैसे स्वामी जागेगा सो अवश्य करूगा ॥

यतः,—

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया' ॥ ३४ ॥

क्योंकि—पीठके वल धूप खाय, पेटके वल अग्निसे तापे, स्वामीकी स प्रकारसे (वफादारीसे) और परलोककी विना कपटसे सेवा करनी चाहिये ॥३४॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास । तेनासौ पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि—"पराधिकारचर्चाम्" इत्यादि ॥ पश्य । पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः स्वनियोगचर्चा क्रियताम् । (विमृश्य) कित्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम् । यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति । दमनकः सकोपमाह—'कथमाहारार्थी भवान्केवलं राजानं सेवते? एतदयुक्तमुक्तं त्वया ।

यह कह कर उसने अत्यंत रेंकनेका शब्द किया । तव वह धोबी उस चिल्लाने जाग उठा और नींद टूटनेके क्रोधके मारे उठ कर लकड़ीसे गधेको मारा जिससे वह मर गया । इसलिये मैं कहता हूं–"पराये अधिकारकी चर्चा" इत्यादि ॥ देख–पशुओंका ढूंडना हमारा काम है ॥ अपने कामकी चर्चा करो (विचार कर) परन्तु आज उस चर्चासे कुछ प्रयोजन नहीं ॥ क्योंकि हम दोनोंके भोजनसे बचा हुआ आहार वहुत धरा है ।' दमनक क्रोधसे बोला 'क्या तुम केवल भोजनकेही अर्थी हो कर राजाकी सेवा करते हो ? यह तुमने अयोग्य कहा ।

यतः,—

सुहृदामुपकारकारणा-
द्द्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

क्योंकि–मित्रोंके उपकारके लिये, और शत्रुओंके अपकारके लिये चतुर मनुष्य राजाका आश्रय करते हैं (याने अपने मित्र या आप्तका हितके लिये और शत्रुके नाशके लियेही राजाश्रय किया जाता है) और केवल पेट कौन नहीं भर सकता है ? अर्थात् सभी भरते हैं ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति? ॥ ३६ ॥

जिसके जीनेसे ब्राह्मण, मित्र और भाई जीते हैं उसीका जीवन सफल है ोर केवल अपने (स्वार्थके) लिये कौन नहीं जीता है? ॥ ३६ ॥

ापि च,—

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्? ॥ ३७ ॥

औरभी–जिसके जीनेसे बहुतसे लोग जिये वह तो सचमुच जिया, और यों । काकभी क्या चोंचसे अपना पेट नहीं भर लेता है? ॥ ३७ ॥

ाश्य,—

पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ ३८ ॥

देख–कोई मनुष्य पाच पुराण[1] मे दासपनेको करने लगता है, कोई लाख मे ारता है और कोई एक लाखमेंभी नहीं मिलता है ॥ ३८ ॥

अन्यच्च,—

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम्।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते? ॥ ३९ ॥

और दूसरे–मनुष्योंको समान जाति होने पर सेवकाई अति निन्दित है और सेवकोंमेंभी जो प्रथम अर्थात् सबका मुखिया नहीं है क्या वह जीते हुओंमे गिना जाता है? अर्थात् उसकी मरोंमेही गिनती है ॥ ३९ ॥

तथा चोक्तम्,—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ४० ॥

जैसा कहा है–घोड़ा, हाथी, लोहा, काष्ठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल इस प्रत्येकमें बड़ा अन्तर है ॥ ४० ॥

तथाहि। स्वल्पमप्यतिरिच्यते।

और उसी प्रकार–थोड़ाभी बहुत गिना जाता

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥ ४१ ॥

कुत्ता थोडी नस तथा चर्बीसे मलिन विना मासकी हड्डीको पा कर उसीमे सतोष कर लेता है, कुछ उससे उसकी भूख दूर नहीं होती है, और सिंह गोदमें आये हुएभी सियारको छोड कर हाथीको मारता है इसलिये सब प्राणी क्लेशको सह कर भी अपने पराक्रमके अनुसार फलको चाहा करते हैं ॥ ४१ ॥

---

१ पुराण=८० कौडी याने एक पैसा, ६४ कौडीकाभी एक पैसा माना जाता है.

अपरं च। सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य,—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

और दूसरे—स्वामी और सेवकका भेद देखो—कुत्ता, टुकड़ा देने वालोंके मा पूछको हिलाता है, उनके चरणोंमें गिरता है, धरती पर लेट कर अपना मु और पेट दिखाया करता है और श्रेष्ठ हाथी तो स्वामीको धीरजसे देखता और सौ सौ उपाय करनेसे खाता है ॥ ४२ ॥

किं च,—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम्।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

और शास्त्रज्ञान, पराक्रम, तथा यशसे विख्यात होकर जो मनुष्य क्षणभर जीते हैं, उसी जीनेको इस दुनियामें पण्डित लोग सफल कहते हैं, और यों काकभी बहुत दिन तक जीता है और बलिको खाता है ॥ ४३ ॥

अपरं च,—

यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

और जो न पुत्र पर, न गुरु पर, न सेवकों पर, और न दीन बांधवा पर करता है उसके जीनेके फलसे मनुष्यलोकमें क्या है, और यों तो काक बहुत काल तक जीता है और बलि खाता है अर्थात् केवल पेट भरनाही जीनेका फल नहीं है ॥ ४४ ॥

अपरमपि,—

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः?' ॥ ४५ ॥

औरभी—हित और अहितके विचारमें मूर्ख, बहुतसे शास्त्रके जानने र और जिसकी इच्छा केवल पेट भरनाही है ऐसे पुरुषरूप पशुमें और सच पशुमें क्या अंतर है अर्थात् ज्ञानसे हीन और भोजनका अर्थी मनुष्य प समान है ॥ ४५ ॥

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ। तदप्यावयोः किमन

चारणया ?' दमनको ब्रूते—'कियता कालेनामात्याः प्रधानता-
प्रधानता वा लभन्ते ।

करटक बोला–'हम दोनों मन्त्री नहीं हैं फिर हमें इस विचारसे क्या ?' दमनक
बोला–'कुछ कालमें मन्त्री प्रधानता वा अप्रधानताको पाते हैं ।

यतः,—

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा ।
लोके गुरुत्वं विपरीतता वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४६ ॥

क्योंकि—इस दुनियामें कोई किसीको स्वभावसे अर्थात् जन्मसे सुशील
अथवा दुष्ट नहीं होता है, परन्तु मनुष्यको अपने कर्मही बड़प्पनको अथवा
नीचपनको पहुंचाते हैं ॥ ४६ ॥

किंच,—

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

और जैसे पर्वत पर बड़े यत्नसे पाषाणकी शिला चढाई जाती है और
क्षनभरमें ढुलका दी जाती है वैसेही मनुष्यके चित्तकी वृत्तिभी गुण और दोषमें
लगाई और हटा ली जाती है अर्थात् मनुष्यकी उन्नति कठिनतासे और अवनति
सहजमें हो सकती है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपनेही कर्मोंसे कुएके खोदने वालेके समान नीचे और राजभवनके
बनाने वालेके समान ऊपर जाता है, अर्थात् मनुष्य अपना उच्च (अच्छे) कर्मोंसे
उन्नतिको और हीन (खराब) कर्मोंसे अवनतिको पाता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।' करटको ब्रूते—'अथ
भवान्किं ब्रवीति ?' स आह—'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः
कुतोऽपि कारणात्सचकितः परिवृत्योपविष्टः ।' करटको ब्रूते—
'किं तत्त्वं जानासि ?' दमनको ब्रूते—'किमत्राविदितमस्ति ?

इसलिये यह ठीक है कि सबकी आत्मा अपनेही यत्नके आधीन रहती है ।'
करटक बोला–'तुम अब क्या कहते हो ?' वह बोला–'यह स्वामी पिंगलक किसी
न किसी कारणसे घबराया-सा लौट करके आ बैठा है ।' करटकने कहा–'क्या
तुम इसका भेद जानते हो ?' दमनक बोला–'इसमें नहीं जाननेकी क्या बात है ?

उक्तं च,—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

और कहा है—जताए हुए अभिप्रायको पशुभी समझ लेता है और हाँके घोड़े और हाथीभी बोझा ढोते हैं । पण्डित बिनाही कहे मनकी बात तर्कसे स लेता है, क्योंकि पराये चित्तका भेद जान लेनाही बुद्धियोंका फल है ॥ ४९

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

आकारसे, हृदयके भावसे, चालसे, कामसे, बोलनेसे और नेत्र और मु विकारसे, औरोंके मनकी बात जान ली जाती है ॥ ५० ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि

इस भयके समय पर बुद्धिके बलसे मैं इस स्वामीको अपना कर लूंगा ॥

यतः,—

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः' ॥ ५१ ॥

क्योंकि—जो प्रसगके समान वचनको, स्नेहके सदृश मित्रको और अ सामर्थ्यके सदृश क्रोधको समझता है वह बुद्धिमान् है' ॥ ५१ ॥

करटको ब्रूते—'सखे ! त्वं सेवानभिज्ञः ।

करटक बोला–'मित्र ! तुम सेवा करना नहीं जानते हो ।

पश्य,—

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः' ॥ ५२ ॥

देखो—जो मनुष्य विना बुलाये घुसे, और विना पूछे बहुत बोलता है, अपनेको राजाका मित्र समझता है वह मूर्ख है' ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र ! कथमहं सेवानभिज्ञः ?

दमनक बोला–'भाई ! मैं सेवा करना क्यों नहीं जानता हूं ?

पश्य,—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाप्यसुन्दरम् ।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

देखो—कोई वस्तु स्वभावसे अच्छी और बुरी होती है, जो जिसको रुच है वही उसको सुन्दर लगती है ॥ ५३ ॥

यतः,—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५४ ॥

क्योंकि–बुद्धिमान्को चाहिये कि जिस मनुष्यका जैसा मनोरथ हो उसी अभिप्रायको निश्चय करके उस पुरुषके पेटमें घुस कर उसे अपने वश कर ले ॥ ५४ ॥

न्यच्च,—

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

और दूसरे—यहा कौन है ? मैं हू, कृपा कर आज्ञा कीजिये, ऐसा कहना हिये और जहा तक हो सके राजाकी आज्ञाको सफल करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

पर च,—

अल्पेच्छुर्धृतिमान् प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत्' ॥ ५६ ॥

और थोड़ा चाहने वाला, धैर्यवान्, पण्डित तथा सदा छायाके समान पीछे रने वाला और जो आज्ञा पाने पर कुछ विचार न करे, अर्थात् यथार्थरूपसे आज्ञाका पालन करे ऐसा मनुष्य राजाके घरमें रहना चाहिये' ॥ ५६ ॥

करटको ब्रूते—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी' । आह—'अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसान्निध्यमवश्यं रणीयम् ।

करटक बोला—'जो कभी कुसमय पर घुस जानेसे स्वामी तुमारा अनादर रे' ॥ वह बोला—'ऐसा होय तो भी सेवकको स्वामीके पास अवश्य जाना ाहिये ।

तः,—

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते ? ॥ ५७ ॥

क्योंकि—दोषके डरसे किसी कामका आरंभ न करना यह कायर पुरुषका चिन्ह है, हे भाई ! अजीर्णके डरसे कौन भोजनको छोड़ते हैं ? ॥ ५७ ॥

द्वय,—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति' ॥ ५८ ॥

देखो-पास रहने वाला कैसाही विद्याहीन, मलिन, तथा कुलहीन मनुष्य क्यों न हो राजा उसीसे हित करने लगता है, क्योंकि राजा, स्त्री और वेल ये बहुधा जो पास रहता है, उसीका आश्रय कर लेते हैं' ॥ ५८ ॥

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान्?' स आह—शृणु । किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि' । करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम् ?'

करटक बोला—'वहा जा कर क्या कहोगे ?' वह बोला—'सुनो । पहिले यह जानूगा कि स्वामी मेरे ऊपर प्रसन्न है अथवा उदास है' करटक बोला—'इस बातको जाननेका क्या चिन्ह है ?'

दमनको ब्रूते—'शृणु,—

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम्।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

दमनक बोला—'सुनो,—दूरसे बडी अभिलाषासे देख लेना, मुसक्याना, समाचार आदि पूछनेमें अधिक आदर करना, पीठ पीछेभी गुणोंकी बड़ाई करना, प्रिय वस्तुओंमे स्मरण रखना ॥ ५९ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम्।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६० ॥

जो सेवक न हो उसमेंभी स्नेह दिखाना, सुन्दर सुन्दर वचनोंके साथ आदिका देना और दोषमेंभी गुणोंका ग्रहण करना ये स्नेहयुक्तके लक्षण है ॥ ६० ॥

अन्यच्च,—

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम्।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६१ ॥

और दूसरे—आज कल कह करके, कृपा आदिके करनेमें समय टालना, आशाओंका बढाना और जब फलका समय आवे तब उसका खंडन करना, उदास स्वामीके लक्षण मनुष्यको जानने चाहिये ॥ ६१ ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति तथा करिष्यामि

यह जान कर जैसे यह मेरे वशमें हो जायगा तैसे करूगा,

यतः,—

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति' ॥ ६२ ॥

क्योंकि—पण्डित लोग नीतिशास्त्रमें कही हुई बुराईके होनेसे उत्पन्न हुई विपत्तिको, और उपायसे उत्पन्न हुई सिद्धिको नेत्रोंके सामने साक्षात् [illegible] हुईसी देखते हैं' ॥ ६२ ॥

करटको ब्रूते—'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि।

करटक बोला—'तो भी बिना अवसरके नहीं कह सकते हो,

यतः,—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम्' ॥ ६३ ॥

क्योंकि—बिना अवसरकी बातको कहते हुए बृहस्पतिभी [illegible] और अनादरको सर्वदा पा सकते हैं' ॥ ६३ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र! मा भैषीः। नाहमप्राप्तावसरं वचो वदिष्यामि।

दमनक बोला—'मित्र! डरो मत, मैं बिना अवसरकी बात न कहूंगा,

ः,—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेपु च ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६४ ॥

क्योंकि—आपत्तिमे, कुमार्ग पर चलनेमे और कार्यका समय टले जानेमे, चाहने वाले सेवकको विना पूछेभी कहना चाहिये ॥ ६४ ॥

दे च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ानुपपन्नम् ।

और जो अवसर पा कर भी मैं परामर्श(राय) नहीं कहूगा तो मुझे मन्त्रीप- ी अयोग्य है ।

ः,—

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ६५ ॥

क्योंकि—मनुष्य जिस गुणसे आजीविका पाता है और जिस गुणके कारण दुनियामे सज्जन उसकी वडाई करते है, गुणीको ऐसे गुणकी रक्षा करना र वडे यत्नसे वढाना चाहिये ॥ ६५ ॥

द्र ! अनुजानीहि माम् । गच्छामि' । करटको ब्रूते—'शुभ- स्तु । शिवास्ते पन्थानः । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्' इति । ततो मनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः ।

इसलिये हे शुभचिन्तक ! मुझे आज्ञा दीजिये । मै जाता हू ।' करटकने हा–'कल्याण होय । और तुम्हारे मार्ग विघ्नरहित अर्थात् शुभ होयॅ । अपना नोरथ पूरा करो !' तव दमनक घवराया-सा पिगलकके पास गया ॥

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणि- त्योपविष्टः । राजाह—'चिराद्दृष्टोऽसि' । दमनको ब्रूते—'यद्यपि या सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किंचित्प्रयोजनमस्ति, तथापि ाप्तकालमनुजीविना सान्निध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि ।

तव दूरसेही वडे आदरसे राजाने भीतर आने दिया और वह साष्टाग दण्डवत करके वैठ गया । राजा वोला–'वहुत दिनमें दीखे ।' दमनक वोला–'यद्यपि मुझ सेवकने श्रीमहाराजको कुछ प्रयोजन नहीं है तोभी समय आने पर सेवकको अवश्य पास आना चाहिये, इसलिये आया हू,

किं च,—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन्[1]
कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणा
किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण ॥ ६६ ॥

और–हे राजा ! दातके कुरेदनेके लिये तथा कान खुजानेके लिये राजाओंको

१ पाद अर्थात् चरणोका शब्द केवल प्रतिष्ठाके लिये है ।

तुनकेसेभी काम पड़ता है फिर देह, वाणी तथा हाथ वाले मनुष्यसे क्यों अर्थात् अवश्य पड़ताही है ॥ ६६ ॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः सङ्क्यते, त न शङ्कनीयम् ।

यद्यपि बहुत कालसे मुझ अनादर किये गयेकी बुद्धिके नाशकी आप शंका करते हो सोभी शका न करनी चाहिये,

यतः,—

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-
र्बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।
अधःकृतस्यापि तनूनपातो
नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ ६७ ॥

क्योंकि—अनादरभी किये गये धैर्यवानकी बुद्धिके नाशकी शका नहीं चाहिये, जैसे नीचेकी ओर की गईभी अग्निकी ज्वाला कभीभी नीचे नहीं है, अर्थात् हमेशा ऊचीही रहती है ॥ ६७ ॥

देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम् ।

हे महाराज ! इस लिये सदा स्वामीको विवेकी होना चाहिये,

यतः,—

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते ।
यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः ॥ ६८ ॥

क्योंकि—मणि चरणोंमें ठुकराता है और काच शिर पर धारण किया है सो जैसा है वैसा भलेही रहे. काच काचही है और मणि मणिही है ॥

अन्यच्च,—

निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते ।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

और दूसरे—जब राजा सब (लायक और नालायक)के विषयमें समान करता है तब बडे बडे कार्यके करने वालोंका उत्साह नष्ट हो जाता है ॥

किं च,—

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

और हे राजा ! उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके मनुष्य हैं, प्रकार इन तीन प्रकारके पुरुषोंको तीन प्रकारके ही कामों नियुक्त कर चाहिये ॥ ७० ॥

यतः,—

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

क्योंकि सेवक और आभरण यथा स्थान लगाये जाते हैं, चूडामणि पैरमें और पाजेब शिर पर नहीं पहिरी जाती है ॥ ७१ ॥

पि च,—

कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न च विरौति न चापि स शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥

और भी–सुवर्णके आभूषणमें जड़नेके योग्य मणि, जो सीसा आदि धातुके भूषणमें जड़ दिया जाय तो, वह मणि न तो झनकारता है और न शोभाही । है किन्तु जडियेकी बुराई होती है ॥ ७२ ॥

न्यच्च,—

मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।
न हि दोषो मणेरस्ति किंतु साधोरविज्ञता ॥ ७३ ॥

और दूसरे–जो मुकुटमें काच जड दिया जाय, और चरणके आभूषणमें णि जड दिया जाय तो कुछ मणिकी निन्दा नहीं है पर जडियेकी मूर्खता नी जाती है ॥ ७३ ॥

श्य,—

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७४ ॥

देखो–यह बुद्धिवान् है, यह राजभक्त है, यह शूर है, इससे भय है, इस प्रकार वकोंके विचारको जानने वाला राजा सेवकोंसे भरा पूरा रहता है ॥ ७४ ॥

था हि,—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७५ ॥

और भी कहा है–घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, मनुष्य और स्त्री ये गुणी थवा गुणहीनके पास पहुचते ही योग्य और अयोग्य हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

नन्यच्च,—

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ? ।
भक्तं शक्तं च मा राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७६ ॥

और दूसरे–असमर्थ भक्तसे अथवा अपकारी समर्थसे क्या प्रयोजन निकलता है ? सो हे राजा ! मेरे समान भक्त और काम करनेमें समर्थका अपमान आपको नहीं करना चाहिये ॥ ७६ ॥

यत.,—

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-
स्ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

क्योंकि राजाके अपमान करनेसे आपसके (परिवारी) लोग बुद्धिहीन हो हैं, पीछे उसके प्रमाणसे (अर्थात् मेराभी यह अपमान करेगा यह सोच पण्डितजन उसके पास नहीं आते हैं। पण्डितोंसे छोड़े हुए राज्यमें नीति रहित नहीं होती है, और नीतिके बिगड़नेसे सब संसार बेवश होकर जाता है ॥ ७७ ॥

अपरं च,—

> जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम्।
> नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७८ ॥

और दूसरे-राजासे सन्मान किये हुए मनुष्यकी प्रजा सर्वदा आदर क है और राजासे अपमान किये गये (पुरुष) का सब अपमान करते हैं ॥

किं च,—

> बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।
> रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम्' ॥ ७९ ॥

और पण्डितोंको बालकसेभी योग्य बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे नहीं निकलने पर क्या दीपकका उजाला नहीं होता है? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्-'भद्र दमनक! किमेतत्? त्वमस्मदीयप्रधा मात्यपुत्र इयन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि।' दमनको ब्रूते—'देव! पृच्छामि किंचित् उच्यताम्। उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित तिष्ठति?' पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्रमुक्तं त्वया। किंत्वेतद्रहस्य काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति। तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि शृणु। संप्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि। तथा च श्रुतो मयापि महान् शब्दः। शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम् दमनको ब्रूते—देव! अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः स शब्दोऽ भिरप्याकर्णितः। किंतु स किमन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं पश्चा चोपदिशति। अस्मिन्कार्यसंदेहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्य

रण में घबराया हुआ-सा हू और मैंने वडा भारी एक अपूर्व शब्दभी सुना है ।
ोर शब्दके अनुसार इस प्राणीका वड़ा वल होगा ।' दमनक बोला–'महाराज!
ह तो वडे भयका कारण है । वह शब्द तो मैंनेभी सुना है परन्तु वह बुरा
त्री है कि जो पहिले धरती छोडनेका और पीछे लडनेका उपदेश देता है । इस
ामके सदेहमेंही सेवकोंके कार्य करनेकी चतुरता जाननी चाहिये ॥

तः,—

बंधुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
आपन्निकपपापाणे नरो जानाति सारताम्' ॥ ८० ॥

क्योंकि—बाधव, स्त्री, सेवक, अपनी बुद्धि और अपना वल इनकी उत्कर्षताको
नुष्य आपत्तिरूपी कसौटी पर जान लेता है' ॥ ८० ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र ! महती शङ्का मां बाधते ।' दमनकः पुनराह
वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां
ंभाषसे ?' प्रकाशं ब्रूते—'देव! यावदहं जीवामि तावद्भयं न
र्तव्यम् । किंतु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकार-
ाले दुर्लभः पुरुषसमवायः ।'

सिंह बोला—'हे शुभचिंतक! मुझे बडी शंका दुख दे रही है।' फिर दमनक
अपने जीमें कहने लगा—'जो यह न होता तो राज्यका सुख छोड कर दूसरे
थानमें जानेके लिये मुझसे क्यों कहते हो ?' प्रकट बोला–'महाराज! जब तक मैं
ीता हू तव तक भय नहीं करना चाहिये, परन्तु करटक आदिकोभी भरोसा दे
ीजिये, क्योंकि विपत्तिके प्रतिकार (उपाय)के समय पुरुषोंका इकट्ठा होना
ुर्लभ है ।'

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रती-
कारं प्रतिज्ञाय चलितौ । करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे!
कि शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा
भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः? यतोऽनुप-
कुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः ।

तब राजाने तन, मन, और धनसे उन दोनोंका सत्कार किया और वे दोनों
दमनक, करटक भयके उपायकी प्रतिज्ञा करके चले । चलते चलते करटकने
दमनकसे कहा—'मित्र! भयके कारणका उपाय होनेके योग्य है अथवा उपाय
न होनेके योग्य है यह विनाही जाने भयके दूर करनेकी प्रतिज्ञा करके कैसे यह
महाप्रसाद (वस्त्र, आभूषण इत्यादि) लेलिया? क्योंकि अनुपकारी (बिना
उपाय किये किसी)की भी भेट नहीं लेनी चाहिये और विशेष करके राजाकी ।'

पश्य,—

यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ८१ ॥

देखो—जिसकी प्रसन्नतामें लक्ष्मी रहती है, पराक्रममें जय रहता है, और
क्रोधमें मृत्यु रहती है, वह सचमुच तेजस्वी होता है ॥ ८१ ॥

तथा हि,—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' ॥ ८२ ॥

और बालकभी राजाका, मनुष्यके धोखेसे अपमान नहीं करना चाहि
क्योंकि यह मनुष्यके रूपसे बडी देवता है' ॥ ८२ ॥

दमनको विहस्याह—'मित्र! तूष्णीमास्यताम्। ज्ञातं मया न
कारणम्। बलीवर्दनर्दितं तत्। वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्या।
पुनः सिंहस्य।' करटको ब्रूते—'यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रा
स्तत्रैव किमिति नापनीतः?' दमनको ब्रूते—'यदि स्वामित्रा
स्तत्रैवमुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्?

दमनक हस कर बोला—'मित्र! तुम चुप बैठे रहो, मैंने भयका कारण
लिया है। वह बैलका नाद था। और बैल तो हमाराभी भोजन है,
सिंहका क्या कहना है!' करटक बोला—'जो ऐसा ही है तो फिर स्वा
भय वहाही क्यों नहीं दूर कर दिया?' दमनकने कहा—'जो स्वामीका भय
ऐसे कह देता तो यह सुंदर वस्त्र आभूषणोंका लाभ कैसे होता?

अपरं च,—

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्' ॥ ८३ ॥

और दूसरे—सेवकोंको चाहिये कि स्वामीको कभी निचला न बैठने
अर्थात् कुछ न कुछ झगडा लगातेही रहे, क्योंकि सेवक स्वामीको अपेक्षार
करके दधिकर्ण बिलावके समान मारा जाता है' ॥ ८३ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्?' दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' दमनक कहने लगा।—

॥ कथा ४ ॥

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम म
विक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मू
षिकः प्रत्यहं छिनत्ति। ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरा
न्तर्गतं मूषिकमलभमानोऽचिन्तयत्—

उत्तर दिशाके मार्गमें अर्बुदशिखर नाम पर्वत पर दुर्दांत नाम [illegible]
पराक्रमी सिंह रहता था. उस पर्वतकी कंदरामें सोते हुवे सिंहकी जटाके [illegible]
एक चूहा नित्य काट जाया करता था, उन जटाओंके छोरोंको कटा देख [illegible]
बिलके भीतर घुसे हुवे चूहेको नहीं पा कर (सिंह) सोचने लगा,—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः' ॥ ८४ ॥

'जो छोटा शत्रु होय और पराक्रमसेभी न मिले तो उसके मारनेके लिये
ऽकी बराबरीका घातक आगे कर देना चाहिये' ॥ ८४ ॥

य्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा विडा-
ो यत्नेनानीय मांसाहार दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः। अनन्तरं
द्भयान्मूषिकोऽपि विलान्न निःसरति । तेनासौ सिंहोऽक्षत-
सरः सुखं स्वपिति । मूषिकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा तदा
ांसाहारदानेन तं विडालं संवर्धयति ।

यह विचार कर उसने गावमें जा और भरोसा दे कर दधिकर्ण नाम बिलावको
त्नसे ला मासका आहार दे कर अपनी कन्दरामें रख लिया। पीछे उसके भयसे
हाभी बिलसे नहीं निकलने लगा—कि जिससे यह सिंह बालोंके नहीं कटनेके
रण सुखसे सोने लगा । जब जब चूहेका शब्द सुनता था तब तब मासके
हारसे उस बिलावको तृप्त करता था ॥

अथैकदा स मूषिकः क्षुधापीडितो वहिः संचरन्विडालेन प्राप्तो
ापादितश्च । अनन्तर स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषिकं न
श्यति तत्कृतरावमपि न शृणोति तदा तस्यानुपयोगाद्विडाल-
याप्याहारदाने मन्दादरो वभूव । ततोऽसावाहारविहारविरहा-
र्वलो दधिकर्णोऽवसन्नो वभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—"निरपेक्षी न
र्तव्यः" इत्यादि' ॥ ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ।
ात्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

फिर एक दिन भूखके मारे बाहर फिरते हुए उस चूहेको बिलावने पकड़
लेया और मार डाला। पीछे उस सिंहने बहुत काल तक जब चूहेको न देखा
और उसका किया हुआ शब्दभी न सुना तब उसके उपयोगी न होनेसे बिलावके
भोजन देनेमेंभी कम आदर करने लगा । फिर, वह दधिकर्ण आहारविहारसे
दुर्बल हो कर दुखी हुआ। इसलिये मै कहता हू—"अपेक्षा रहित नहीं करना
चाहिये" इत्यादि' इसके अनन्तर दमनक करटक दोनों सजीवकके पास गये।
वहा करटक पेडके नीचे बडे अहकारसे बैठ गया।

दमनकः संजीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—'अरे वृषभ! एषोऽहं
राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समा-
ज्ञापयति—"सत्वरमागच्छ। न चेदस्मादरण्याद्दूरमपसर । अ-
न्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति।" न जाने क्रुद्धः स्वामी किं
विधास्यति।' तच्छ्रुत्वा संजीवकश्चायात्।

दमनक सजीवकके पास जा कर बोला—'अरे बैल! ये मै वह हू कि जिसको
राजा पिंगलकने वनकी रखवालीके लिये नियुक्त किया है और सेनापति करटक
आज्ञा करता है कि "शीघ्र आ, जो न आवे तो हमारे वनसे दूर चला जा।

नहीं तो तेरेलिये बुरा फल होगा", न जाने क्रोधी स्वामी क्या कर डाले' सुन कर सजीवकभी साथ आया

> आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
> पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः॥ ८५॥

राजाकी आज्ञाका भग, ब्राह्मणोंका अनादर, स्त्रियोंकी अलग शय्या इन इनको विना शस्त्रका वध (मरना) कहते हैं ॥ ८५ ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्ग करटकं प्रणतवान्।

फिर, देशकी रीतिको नहीं जानने वाले सजीवकने डरते डरते पास आ करटकको साष्टाग प्रणाम किया,

तथा चोक्तम्,—

> मतिरेव बलाद्गरीयसी
> यदभावे करिणामियं दशा।
> इति घोषयतीव डिण्डिमः
> करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन्॥ ८६॥

जैसा कहा है—बलसे, बुद्धि अधिक बडी है कि जिस बुद्धिके न हाथियोंकी ऐसी दशा होती है, अर्थात् बली होने पर भी मतिहीन होनेसे प हो जाते हैं, यही बात मानों हाथीवान्से बजाया गया हाथीका नगाडा करके कहता है ॥ ८६ ॥

अथ संजीवकः साशङ्कमाह—'सेनापते! किं मया कर्तव्य तदभिधीयताम्।' करटको ब्रूते—'वृषभ! अत्र कानने तिष्ठ अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम।' संजीवको ब्रूते—'तदभयवाच यच्छ, गच्छामि।' करटको ब्रूते—'शृणु रे बलीवर्द! अलम् शङ्कया।

फिर सजीवक शङ्काने बोला—'हे सेनापति! मुझे क्या करना चाहिये कहिये।' करटकने कहा—'हे बैल! इस वनमें ठहरो, और हमारे म चरणकमलोंको प्रणाम करो' सजीवक बोला—'मुझे अभय वचन चलूं।' यह सुन करटक बोला—'सुन रे बैल! ऐसी दुविधा मत कर,

यत,—

> प्रतिवाचमदत्त केशवः
> शपमानाय न चेदिभूभुजे।
> अनुहुंकुरुते घनध्वनिं
> न हि गोमायुरुतानि केसरी॥ ८७॥

अन्यच्च,—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम्' ॥ ८८ ॥

और भी देख–आधी चारों ओरसे झुके हुए, तथा कोमल और छोटे छोटे पेड़ोंको नहीं उखाड़ती है, पर बड़े बड़े जुगादी पेडोंको जड़से गिरा देती है, क्योंकि बड़ा बडेही पर विक्रम करता है' ॥ ८८ ॥

ततस्तौ संजीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ ।

फिर वे दोनों संजीवकको थोडी दूर पर ठहरा कर पिंगलकके पास गये ॥

ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाह–'त्वया स दृष्टः?' दमनको ब्रूते—'देव ! दृष्टः । किंतु यद्देवज्ञातं तत्तथा । महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति । किंतु महाबलोऽसौ, ततः सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम् । शब्दमात्रादेव न भेतव्यम् ।

राजाने उन दोनोंको आदरसे देखा और वे दोनों प्रणाम करके बैठ गये । फिर राजा बोला—'तुमने उसे देखा ?' दमनकने कहा–'हे महाराज ! देखा, परन्तु जैसा महाराजने समझा था वैसाही है । बड़ा है, महाराजके दर्शन करना चाहता है । परन्तु वह बड़ा बलवान् है । इसलिये सावधान हो बैठ कर देखिये । केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये ।

तथा चोक्तम्,—

शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता' ॥ ८९ ॥

जैसा कहा है—शब्दका कारण बिना जाने केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये. जैसे शब्दका कारण जान कर कुटनीने आदर पाया' ॥ ८९ ॥

राजाह—'कथमेतत्?' दमनकः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है ?' दमनक कहने लगा ।—

॥ कथा ५ ॥

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम् । तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते । एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः । तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता । वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति । ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते । अनन्तरं घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान्खादति घण्टां च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः । ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टानादः । तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः—'देव!

यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधया
ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम् । कुट्टन्या च मण्डलं
तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्य
वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य वा
फलासक्ता बभूवुः । कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरम
सर्वजनपूज्याऽभवत् । अतोऽहं ब्रवीमि—"शब्दमात्रान्न भेत
इत्यादि ॥' ततः संजीवक आनीय दर्शनं कारितः । पश्चा
परमप्रीत्या निवसति ।

श्रीपर्वतके बीचमें एक ब्रह्मपुर नाम नगर था । उसके शिखर पर एक घ
नाम राक्षस रहता था, यह मनुष्योंसे उड़ती हुई खबर सुनी जाती है
दिन घंटेको ले कर भागते हुये किसी चोरको व्याघ्रने मार डाला. और
हाथसे गिरा हुआ घंटा बंदरोंको मिला। बंदर उस घंटेको बार बार बजाते
नगरवासियोंने देखा कि वह मनुष्य खा लिया गया और प्रतिक्षणमें घंटेक
सुनाई देता है । तब सब नागरिक लोग "घंटाकर्ण क्रोधसे मनुष्योंको खाता
घंटेको बजाता है—" यह कह कर नगरसे भाग चले । बाद कराला नाम कु
विचार किया कि यह घंटेका शब्द बिना अवसरका है, इसलिये क्या
घंटेको बजाते हैं? इस बातको अपने आप जान कर राजासे कहा–'जो कु
खर्च करो तो मैं इस घंटाकर्ण राक्षसको वशमें कर लूं ।' फिर राजाने उ
दिया. और कुटनीने मंडल बना कर उसमें गणेश आदिकी पूजाका च
दिखला कर और आपने बन्दरोंको अच्छे लगने वाले फलोंको ला कर वनमें ज
फल फैला दिया । फिर घंटेको छोड़ कर बन्दर फलोंके खानेमें लग गये।
कुटनी घंटेको ले कर नगरमें आई और सब जनोंने उसका आदर किया । इ
मैं कहता हूं–"केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये" इत्यादि' । फिर संजी
ला कर दर्शन कराया । पीछे वह वहांही बड़ी प्रीतिसे रहने लगा ॥

अथ कदाचित्तस्य सिंहस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः
गतः । तस्यातिथ्यं कृत्वा समुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय
हन्तुं चलितः । अत्रान्तरे संजीवको वदति—'देव ! अद्य
मृगाणां मांसानि क?' राजाह—'दमनककरटकौ जानीत
संजीवको ब्रूते–'ज्ञायतां किमस्ति नास्ति वा ।' सिंहो विमृश्या
'नास्त्येव तत्' । संजीवको ब्रूते—'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां
दितम्?' राजाह–'खादितं व्ययितमवधीरितं च । प्रत्यह
क्रमः ।' संजीवको ब्रूते–'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रिय
राजाह– मदीयागोचरेणैव क्रियते ।' अथ संजीवको ब्रूते—'
दुचितम् ।

इसके अनन्तर एक दिन उस सिंहका भाई स्तब्धकर्ण नाम सिंह

…का आदर-सत्कार करके और अच्छी भांति वैठा कर पिंगलक उसके भोजनके पशु मारने चला । इतनेमें सजीवक वोला कि—'महाराज ! आज मारे हुए का मास कहा है ?' राजाने कहा–'दमनक करटक जानें ।' सजीवकने कहा–जान लीजिये कि है या नहीं है ?' सिंहने विचार कर कहा–'अव वह नहीं सजीवक वोला–'इतना सारा मास उन दोनोंने कैसे खा लिया ?' राजा वोला–या, वाटा और फॅक फाक दिया ! नित्य यही डौल रहता है।' तव सजीवकने –'महाराजके पीठ पीछे इस प्रकार क्यों करते हैं ?' राजा वोला–'मेरे पीठ ऐसाही किया करते हैं।' फिर सजीवकने कहा–'यह वात उचित नहीं है ।

…ा चोक्तम्,—

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किंचिदपि स्वयम् ।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते ! ॥ ९० ॥

जैसा कहा है—हे राजा ! स्वामीके विना जताये आपत्तिके उपायको छोड़ …र कुछ काम अपने आप नहीं करना चाहिये ॥ ९० ॥

…न्यच्च,—

कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो वहुग्रहः ।
नृपते ! किक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९१ ॥

और हे राजा ! मन्त्री कमण्डलुके समान है, क्योंकि थोड़ा खर्च करता है …र वहुत सग्रह करता है, और मूर्ख समयको अनमोल नहीं समझता है, …र्थात् इस थोड़ेसे समयमें क्या होगा ? और दरिद्री कौडीको अनमोल नहीं …नता है ॥ ९१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिनीं यः प्रवर्धयेत् ।
कोशः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ९२ ॥

निश्चय करके वही मन्त्री श्रेष्ठ है जो दमडी दमडी करके कोषको वढावे, क्यों…क कोषयुक्त राजाका कोषही प्राण है, केवल जीवनही प्राण नहीं है, अत एव …ोषको प्राणोंसेभी अधिक रक्खे ॥ ९२ ॥

किं चान्यैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥ ९३ ॥

और धन आदिके विना अन्य अच्छे कुल और आचारसे पुरुष आदर नहीं …ाता है, क्यों कि धनहीन मनुष्यको उसकी स्त्री तक छोड देती है फिर दूसरोंकी …्या कहें ॥ ९३ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

और यह राजाका मुख्य दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः ।
मोषणं दूरसंस्थानं कोशव्यसनमुच्यते ॥ ९४ ॥

वहुत खर्च करना, धनकी इच्छा न रखना, अन्यायसे धन इकट्ठा करना।

अन्यायसे किसीका धन छीन लेना, और धनको दूर ले जा कर रख [illegible]
कोषका व्यसन याने दोष कहा गया है ॥ ९४ ॥

यतः,—

> क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
> परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः' ॥ ९५ ॥

क्योंकि धनके लाभको बिना विचारे अपनी इच्छासे शीघ्र व्यय [illegible]
कुबेरके समान धनवान् होने पर भी वह धनी अवश्य दरिद्री हो जात[illegible]

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः! चिराश्रितावेतौ दमनक[illegible]
संधिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियो[illegible]

स्तब्धकर्ण बोला—'सुनो भाई! ये दमनक करटक बहुत दिनोंसे अप[illegible]
पड़े हुये हैं और लड़ाई तथा मेल करानेके अधिकारी हैं, धनके अ[illegible]
ये कभी नहीं लगाने चाहिये

अपरं च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते।

और दूसरे, ऐसे कामके विषयमें जो मैंने सुना है सो कहा जाता [illegible]

> ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
> ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९[illegible]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, और भाईबन्धु इनको अधिकार पर लगाना अ[illegible]
क्योंकि ब्राह्मण शीघ्र सिद्ध होने वाले प्रयोजनको राजाके आग्रहको जान [illegible]
कठिनतासे नहीं करता है ॥ ९६ ॥

> नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम्।
> सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

जो क्षत्रियको धनके काम पर रक्खे तो निश्चय करके राज्य छिनानेको
तरवार दिखाने लगता है, और बान्धव ज्ञातिके कारण घेर कर [illegible]
लेता है ॥ ९७ ॥

> अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः।
> स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निर्भय रहता है और स्वामीको
[illegible] बिना रोकटोक काम करता है ॥ ९८ ॥

> उपकर्ताधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते।
> उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ ९९ ॥

उपकार करने वाला अधिकार पर बैठ कर [illegible]
और उपकारको आगे करके सब [illegible] है ॥ ९९ ॥

> उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः।
> अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम् ॥ १०० ॥

[illegible]

आचरण करता है और वह पास रहनेसे निश्चय स्वामीका अनादर करता ॥ १०० ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते!॥ १०१॥

हे राजा! भीतरका दुष्ट अर्थात् पीठ पीछे काम विगाडू और सहनशील र्थात् सामने हित दिखाने वाला मन्त्री निश्चय करके सब अनर्थोंका करने वाला ता है. इस विषयमें शकुनि और शकटार ये दो दृष्टान्त हैं ॥ १०१ ॥

सदामात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि।
सिद्धानामयमादेश ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०२॥

धनसे वढे हुए सब मन्त्री लोग निश्चय करके अंतमें असाध्य अर्थात् स्वतन्त्र हो जाते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य चित्तको विकृत करने वाला (दानतको विगाडने वाला) यह महात्माओंका वाक्य है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम्।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०३॥

मिले हुए धनका मार लेना, द्रव्यका अदल वदल करना, अनुरोध (वार २ ग्र मागना), सब कामोंमें आलकस, बुद्धिहीन होना और परस्त्रियोंके साथ गमें लगा रहना यह मन्त्रीके दूषण हैं ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहापायो राज्ञां नित्यपरीक्षणम्।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०४॥

और राजाके संचय किये हुए धनका नाश, राजाओंकी नित्य परीक्षा, अर्थात् सन्न है या अप्रसन्न है, यह जानना और प्रिय वस्तुका दे देना, और करनेके लिय काममें आलस्य करना येभी मन्त्रीके दूषण हैं ॥ १०४ ॥

निष्पीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५॥

अधिकारी लोग अधिक दवानेसे राजाके भीतरे भेदको सर्वत्र ऐसे उगलते करते हैं कि जैसे फोड़ा अधिक दवानेसे भीतरकी राद इत्यादि उगल देता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते!।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्द्रुतं पयः ॥ १०६॥

और हे राजा! अधिकारीके जोडे हुए धनकी वार वार परीक्षा करनी चाहिये क्योंकि एकवार निचोडा हुआ न्हानेका वस्त्र क्या शीघ्र जलको छोड़ देता है? अर्थात् कभी नहीं छोड़ता है ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम्।' सिंहो ब्रूते—'अस्ति

१ दुर्योधनका मामा जो मन्त्रीके पद पर काम करता था २ राजा महानंदका मन्त्री

तावदेवम्, किंत्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ।' स्तब्ध ब्रूते—'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा।

यह सब जैसा अवसर हो वैसा जान कर काम करना चाहिये। बोला—'यह तो है ही, पर ये सर्वथा मेरी बातको नहीं करने वाले हैं।' स्त बोला—'यह सब प्रकारसे अनुचित है।

यतः,—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥ १०७ ॥

क्योंकि—राजा आज्ञाभंग करने वाले अपने पुत्रोंकोभी क्षमा न करे, ऐसा न करनेसे जीते हुए राजामें और चित्रमें लिखे हुए राजामें क्या भे अर्थात् ऐसा राजा किसी कामका नहीं होता है ॥ १०७ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ १०८ ॥

अहंकारी मनुष्यका यश, चचल चित्त वालेकी मित्रता, दुष्ट इन्द्रियों कुल, धनके लोभीका धर्म, द्यूत आदि व्यसनमें आसक्तका विद्याफल, सुख, और विवेकहीन मंत्री वाले राजाका राज्य, नष्ट हो जाता है ॥ १०

अपरं च,—

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि ॥ १०९ ॥

और दूसरे—राजाको चोरोंसे, सेवकोंसे, शत्रुओंसे अपने प्रिय म और अपने लोभसे, पिताके समान प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १०

भ्रातः! सर्वथाऽस्मद्वचनं क्रियताम्। व्यवहारोऽप्यस्माभि एव। अयं संजीवकः सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यता एतद्वचनात्तथानुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसंजीवकयो बन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते। ततोऽनुजीवि मप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनककरटकावन्योन्यं चिन्तय तदाह दमनकः करटकम्—'मित्र! किं कर्तव्यम्? आत्मकृतो दोषः। स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्।

ग—'मित्र ! अब क्या करना चाहिये ? यह अपनाही किया दोष है, आपही करने पर पछताना भी उचित नहीं है ।

। चोक्तम्—

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा बद्धात्मानं च दूतिका ।
आदित्सुश्च मणिं साधुः स्वदोषाद्दुःखिता इमे' ॥ ११० ॥

जैसा कहा है—मैं स्वर्णरेखाको छू कर, और कुटनी अपनेको बाँध कर तथा धु मणि लेनेकी इच्छासे—ये तीनों अपने दोषसे दुखी हुए' ॥ ११० ॥

करटको ब्रूते—'कथमेतत् ?' दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' दमनक कहनेलाग । —

॥ कथा ८ ॥

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा । तस्य धर्मा-कारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कंदर्पकेतुनाम्ना रिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन नायं हन्तव्य इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले तः । राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः ?' स आह—'श्रू-ताम् ।' "स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा" इत्यादि पठति । त आहुः—'कथ-तत् ?' परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपे भूपतेर्जीमूत-तो. पुत्रः कंदर्पकेतुर्नाम । एकदा केलिकाननावस्थितेन मया तवणिङ्मुखाच्छ्रुतं यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्प-रुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालंकारभूषिता क्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद्दृश्यत इति । ततोऽहं तवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तरं तत्र गत्वा र्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव सावलोकिता । ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन यापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः । तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य वर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मया-लोकिता । तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं संभा-षेत. । तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—'एषा कंदर्प-केलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रति-ज्ञापिता विद्यते । "यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य पश्यति स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यती"ति मनसः संकल्पः । तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान् ।' अथ तत्र वृत्ते गान्धर्ववि-वाहे तया सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि । तत एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन् ! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम् । एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्प्रष्टव्या ।' पश्चा-दुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा तया चित्र-गतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः । अथ

दुःखार्तोऽहं परिव्राजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्र
अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम् ।' प्रदोष
सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह मि
मन्त्रयन्तीमपश्यत् । ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सु
ततोऽर्धरात्र एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्याऽऽ
तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते ।

काञ्चनपुर नाम नगरमें वीरविक्रम नाम एक राजा था । उसका धर्मा
किसी नाईको वधस्थानमें लाया था, उस समय कन्दर्पकेतु नाम कोई
जिसका साथी एक बनिया था उसने 'यह मारनेके योग्य नहीं है' य
कर अपने वस्त्रके पल्लेसे उसे छिपा लिया राजाके सेवक बोले–'यह
योग्य क्यों नहीं है ?' वह बोला–'सुनिये, "मैं स्वर्णरेखाको छू कर'
पढ़ता है ।' वे बोले–'यह कथा कैसे है ?' । सन्यासी कहने
सिंहलद्वीपके जीमूतकेतु नाम राजाका पुत्र कन्दर्पकेतु नाम हूं ।
एक समय मैंने आनन्द भोगनेके उपवनमें बैठे बैठे एक नावके व्यापारी
यह सुना कि यहां समुद्रके बीचोंबीचमें चौदसके दिन
निकलता है, उसके नीचे रत्नोंकी किरणोंसे बादलों
हुए रंगबिरंगे पलंग पर बैठी हुई और रत्न आभूषणोंसे भूषित
समान वीन को बजाती हुई कोई कन्या दिखाई दिया करती है

ग्वालके घरमें सोते सोते देखा कि सन्ध्याके समय ग्वाला मित्रोंका सत्कार के अपने घर आया और अपनी स्त्रीको एक कुट्टनीके साथ कुछ कानाफूँसी ते हुए देख लिया। फिर उस ग्वालिनको मारपीट कर और खंभेमें बांध कर रहा पीछे आधी रातको इसी नाईकी बहू कुट्टनी फिर उस घोसिनके पास कर कहने लगी–'तेरे विरहकी अग्निसे जला हुआ कामदेवके बाणोंसे घायल मरासू-सा हो रहा है।

था चोक्तम्,—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥ १११॥

जैसा कहा है—चन्द्रमासे रातमें अंधकार दूर होने पर कामदेवने देख देख र युवाओंके चित्तोंको व्याकुल किया॥ १११॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमा-ता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य त्वरमागमिष्यसि। तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्। दानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि। ततो यदासौ न किंचि-पि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः। दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न दासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्त्तिकामादायास्या नासिका छिन्ना। था कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी तीमपृच्छत्—'का वार्ता?' दूत्योक्तम्—'पश्य माम्। मुखमेव र्ता कथयति।' अनन्तर सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता। यं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः रातरेवानेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं दात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्॥ अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती॥ सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे पाप! को मां महा-सतीं निरूपयितुं समर्थः? मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति।

उसकी वैसी दशा देख कर मनमें घबराई हुई तेरी अनुवर्तिनी (एवजी) करने आई हूं। इसलिये मैं यहां अपनेको बांध कर रहती हूं। तू वहां जा कर उसको संतुष्ट कर—शीघ्र लौट आइयो' ऐसा कहने पर वह ग्वाला जाग कर कहने लगा–अब तुझ पापिनको तेरे यारके पास ले चलूं। फिर जब यह कुछ न बोली तब ग्वाला झुंझलाया। घमंडसे मेरी बातका उत्तरभी नहीं देती है यह कह कर क्रोधसे उसने छुरी निकाल, उसकी नाक काट डाली। वैसा करके ग्वाला फिर सो गया, और उसे निद्रा आ गई फिर ग्वालिनने आ कर दूतीसे पूछा— 'क्या बात है?' दूतीने कहा–'मुझे देख ले, मुखही बात कह देता है।' फिर वह

दुःखार्तोऽहं परिव्राजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्।' प्रदोषसमये सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः। ततोऽर्धरात्रे एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यावदत्— तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते।

काचनपुर नाम नगरमें वीरविक्रम नाम एक राजा था। उसका घ... किसी नाईको वधस्थानमें लाया था, उस समय कंदर्पकेतु नाम को... जिसका साथी एक बनिया था उसने 'यह मारनेके योग्य नहीं है... कर अपने वस्त्रके पल्लेसे उसे छिपा लिया राजाके सेवक बोले–'य... योग्य क्यों नहीं है?' वह बोला–'सुनिये, "मैं स्वर्णरेखाको छू कर... पडता है।' वे बोले–'यह कथा कैसे है?'। सन्यासी कहने... सिंहलद्वीपके जीमूतकेतु नाम राजाका पुत्र कन्दर्पकेतु नाम हूं... एक समय मैंने आनन्द भोगनेके उपवनमें बैठे बैठे एक नावके व्यापारी... यह सुना कि यहा समुद्रके बीचोबीचमें चौदसके दिन... निकलता है, उसके नीचे रत्नोंकी किरणोंका बाढकी झलक... हुए रगविरगे पलग पर बैठी हुई और सब आभूषणोंसे भूषित दूस... समान बीनको बजाती हुई कोई कन्या दिखाई दिया करती है फि... व्यापारीको ला कर और नाव पर चढ कर वहा गया। पीछे वहा जा क... आधी डूबी हुई ज्योंकी त्यों मैंने उसे देखा। फिर उसके सुन्दर... लुभाया गया, मैं भी उसके पीछे झट कूद पडा। इसके अनन्तर... पहुच कर सुवर्णके भवनमें वैसेही पलग पर बैठी हुई और विद्याधरियो... गईको मैने देखी, उसनेभी मुझे दूरसे देख कर और सहेलीको भेज क... "मुझे बुलानेका" सदेसा कहला भेजा। और जब मैंने सखीसे "उसने... पूछा, तब उसने सब अच्छे प्रकारसे कह सुनाया कि यह कदर्पकेलि ना... ओंके चक्रवर्ती राजाकी रत्नमजरी नाम बेटी यह प्रतिज्ञा कर बैठी है कि... कनकपुरको अपने नेत्रसे देखेगा वह मेरे पिताका अपरिचितभी मुझे ब... यह मनका सकल्प है। इसलिये आप इसके साथ गधर्वविवाह क... फिर वहा गधर्वविवाह होनेके बाद उसके साथ रमण करता हुआ... लगा। फिर एक दिन उसने मुझसे एकातमें कहा–'हे स्वामी! अपनी... यह सब पदार्थ भोगो। परतु इस चित्रलिखित सुवर्णरेखा नाम... कभी मत छूना पीछे कुछ कौतुक होने पर मने स्वर्णरेखाको अपने हा... और उस चित्रमें लिखी हुई(सुवर्णरेखा)ने अपने चरणकमलसे... ठुकराया कि मैं अपने राज्यमें आ पडा! पीछे मै दुःखसे दुःखी मन... पृथ्वी पर घूमता घूमता इस नगरमें आ पहुचा हूं और यहा दिन...

ग्वालके घरमें सोते सोते देखा कि सन्ध्याके समय ग्वाला मित्रोंका सत्कार के अपने घर आया और अपनी स्त्रीको एक कुट्टनीके साथ कुछ कानाफूँसी ते हुए देख लिया। फिर उस ग्वालिनको मारपीट कर और खंभेमें बांध कर रहा. पीछे आधी रातको इसी नाईकी बहू कुट्टनी फिर उस घोसिनके पास कर कहने लगी–'तेरे विरहकी अग्निसे जला हुआ कामदेवके बाणोंसे घायल मरासू-सा हो रहा है।

था चोक्तम्,—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥ १११॥

जैसा कहा है—चन्द्रमासे रातमें अंधकार दूर होने पर कामदेवने देख देख युवाओंके चित्तोंको व्याकुल किया॥ १११॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमा-गता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य त्वरमागमिष्यसि। तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्। दानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि। ततो यदासौ न किंचि-दपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः। दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्त्तिकामादायास्या नासिका छिन्ना। था कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी तीमपृच्छत्—'का वार्ता?' दूत्योक्तम्—'पश्य माम्। मुखमेव र्ता कथयति।' अनन्तर सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता। यं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः ातरेवानेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं ादात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुर दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्॥ अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती॥ सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे पाप! को मां महा-सतीं निरूपयितुं समर्थः? मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति।

उसकी वैसी दशा देख कर मनमें घबराई हुई तेरी अनुवर्तिनी (एवजी) करने आई हूं। इसलिये मैं यहां अपनेको बांध कर रहती हूं। तू वहां जा कर उसको संतुष्ट कर—शीघ्र लौट आइयो'. ऐसा कहने पर वह ग्वाला जाग कर कहने लगा–अब तुझ पापिनको तेरे यारके पास ले चलूं। फिर जब यह कुछ न बोली तब ग्वाला झुंझलाया। घमंडसे मेरी बातका उत्तरभी नहीं देती है यह कह कर क्रोधसे उसने छुरी निकाल, उसकी नाक काट डाली। वैसा करके ग्वाला फिर सो गया, और उसे निद्रा आ गई फिर ग्वालिनने आ कर दूतीसे पूछा— 'क्या बात है?' दूतीने कहा–'मुझे देख ले, मुखही बात कह देता है।' फिर वह

ग्वालिन वैसेही करके आप अपनेको बाध कर ठहरी रही, और वह दूती कटी हुई नाकको ले कर अपने घरमें घुस कर बैठी रही। फिर प्रात काल हो इस नाईने अपनी बहूसे पेटी माँगी। उसने एक उस्तरा दे दिया। फिर अ पेटीको पा कर इसे बड़ा क्रोध आया और इस नाईने उस छुरेको दूरसेही फेंक दिया. पीछे इसने बड़ा हुर्रा मचाया कि विना अपराध इसने मेरी न काट डाली है, यह कह कर इसे धर्माधिकारीके पास ले आई। और उधर ग्वा उस ग्वालिनसे फिर पूछा और वह बोली–'अरे पापी! कौन मुझसी महापतिव्र निरूपण कर सकता है? मेरे पापरहित व्यवहारको आठों लोकपालभी जानते

यतः,—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥ ११२॥

क्योंकि—सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, य दिन, रात, दोनों सध्या और धर्म ये मनुष्यके आचरणको जानते हैं॥ ११

यद्यहं परमसती स्याम्, त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्त स्वप्नेऽपि न हि भजे, तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाऽक्षि न्नास्तु। मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे। किंतु स्वामी त्वम् लोकभयादुपेक्षे। पश्य मन्मुखम्। ततो यावदसौ गोपो दी प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तच्चरणयो पतितः—'धन्योऽयं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इति। योऽय मास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि कथयामि। अयं स्वगृहान्निर्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र वेश्यागृहे सुप्तः। तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेताल मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते तत्र लुब्धेनानेन साधुना रात्रा त्थाय रत्नं ग्रहीतुं यत्नः कृतः। तदा तेन वेतालेन सूत्रसंचारि तबाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार। पश्चादुत्थाय कुट्टन्यो क्तम्—'पुत्र! मलयोपकण्ठादागतोऽसि। तत्सर्वरत्नानि अस्मै च्छसि। नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि।' इत्थमेवायं चेटकः ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि यथायमपहृतसर्वस्वोऽस्माभि समागत्य मिलितः। एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्याये धर्माधिकार प्रवर्तितः। अनन्तरं तेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारित नापितश्च गृहं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा" इत्यादि॥ अथ स्वयंकृतोऽयं दोषः। अत्र विलपनं नोचितम्। (क्षणं विमृश्य।) मित्र! यथाऽनयोः सौहार्दं मया कारितं तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्यः।

जो मै सच्ची पतिव्रता होऊ, तुझे छोड़ दूसरेको न जानती होऊ, दूसरे
पुरुषको स्वप्नमेंभी न भजती होऊ तो उस धर्मसे मेरी कटी हुई नाकभी विना
कटी हो जाय. मैं तुझे भस्म कर सकती हू, परन्तु तू पति है, ससारके भयसे
डरती हूं। मेरा मुख देख। 'फिर ज्योंही उस ग्वालेने दिया जला कर उसका
मुख देखा त्योंही उसका नाकसमेत मुख देख कर उसके चरणोंमे गिर पड़ा–'मुझे
धन्य है कि जिसकी ऐसी पतिव्रता स्त्री है ॥ और यह दूसरा जो वनिया है
उसका वृत्तान्तभी कहता हू। यह अपने घरसे निकल कर वारह वरसमे मलया-
चलके पास इस नगरीमें आया, यहां वेश्याके घरमें सोया, उस कुट्टनीके घरके
द्वार पर वैठाये गये काठके वने हुए वेतालके सिरमें एक अनमोल रत्न था. वहा
इस लोभी वनियेने रातको उठ कर रत्न लेनेका यत्न किया. तव उस पिशाचने
यंत्रसे चलाई गई भुजाओंसे उसे खींचा और वह रो कर चिल्लाया. पीछे उठ कर
कुट्टनीने कहा–'हे पुत्र! तू मलयके पाससे आया है। इसलिये सव रत्न इसे दे दे.
नहीं तो तू इससे नहीं छुटेगा; यह सेवक ऐसाही है'. तव इसने सव रत्न दे दिये.
और इस प्रकार यह सर्वस्व खो कर हमारे साथ आ कर मिल गया। यह सव
सुन कर राजपुरुषोंने न्याय करनेके लिये धर्माधिकारीको प्रवृत्त कर दिया, फिर
उसने उस दूती और ग्वालिनको देसनिकाला दे दिया ॥ और नाईभी घर गया।
इसलिये मैं कहता हू—"स्वर्णरेखाको मैने छू कर" इत्यादि ॥ और यह अपनाही
किया दोष है। इसमें विलाप करना उचित नहीं है। (क्षणभर जीमे विचार
कर) हे मित्र! जैसे मैंने इन दोनोंकी मित्रता कराई थी वैसेही मित्रोंमे फूट भी
कराऊगा।

यतः,—

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥ ११३॥

क्योंकि—अति चतुर मनुष्य झूठी वार्तोंकोभी सची कर दिखाते हैं, जैसे
चित्रके कामको जानने वाले मनुष्य, एकसे स्थान पर पहाड, घर इत्यादि खींच
कर नीचा ऊचा दिखाते हैं ॥ ११३ ॥

अपरं च,—

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा॥ ११४॥

और दूसरे–जिसकी बुद्धि कार्योंके उपस्थित होने परभी नहीं घटती है वह
मनुष्य सकटोंसे ऐसे वच जाता है, जैसे एक ग्वालिनने दो यारोंका निस्तारा
किया ॥ ११४ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्?' दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा–'यह कथा कैसे है?' दमनक कहने लगा।—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी। सा ग्रामस्य
दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते।

द्वारावती नाम नगरीमें किसी ग्वालेकी बहू छिनाल थी। वह गाँवके नायक और उसके पुत्रके साथ रमण किया करती थी.

तथा चोक्तम्,—

> नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
> नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना॥ ११५॥

और वैसा कहा भी है कि—अग्नि इंधनसे, समुद्र नदियोंसे, मृत्यु सब प्राणियोंसे, और स्त्री पुरुषोंसे तृप्त नहीं होती है॥ ११५॥

अन्यच्च,—

> न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया।
> न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः॥ ११६॥

और स्त्रियोंका (धन आदिके) दानसे, सन्मानसे, (मिष्ट भाषण आदि) सीधेपनसे, सेवासे, शस्त्रसे और शास्त्रसे "वशमें होना" सब प्रकारसे कठिन है॥११६॥

यतः,—

> गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं
> पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम्।
> विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
> नरान्तरं शीलगुणादिहीनम्॥ ११७॥

क्योंकि—स्त्रियां सब गुणोंसे युक्त, यशस्वी, सुन्दर, कामशील, धनवान, जवान ऐसे पतिको छोड़ कर शील और गुणसे हीन दूसरे मनुष्यके पास चली जाती है॥ ११७॥

अपरं च,—

> न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी
> विचित्रशय्यां शयितापि कामम्।
> यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ
> प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात्॥ ११८॥

और दूसरे—स्त्री जैसी कि तृण आदि बिछी हुई भूमि पर यारके साथ आनन्द पाती है वैसा सुख विचित्र शय्या पर पतिके साथ भी सो कर नहीं पाती है॥११८॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति। अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः। तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुसूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति। अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः। तमालोक्य गोप्योक्तम्—'दण्डनायक त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सत्वरं गच्छ'। तथा तेनानुष्ठिते तेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः?' सा ब्रूते—'अयं केनापि कार्येण पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च पलायमानोऽत्रागत्य प्रविष्टो मया कुसूले नि

प्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति। ततः सा तत्पुत्रं कुशूलाद्बहिष्कृत्य र्शितवती।

फिर वह किसी दिन दंडनायकके पुत्रके साथ रमण कर रही थी इतनेमें डनायकभी रमण करनेके लिये वहा आ गया। तब उसको आता हुआ देख कर सके पुत्रको कुठीलेमें घुसा कर दडनायकके साथ वैसेही क्रीडा करने लगी इसके रात उसका भर्ता ग्वाला पौहारसे आया. उसको देख कर गोमीने कहा-'हे डनायक! तू लकड़ी ले कर क्रोधको दिखाता हुआ शीघ्र जा उसके वैसा करने र ग्वालाने घरमें आ कर स्त्रीसे पूछा-'किस कामसे दडनायक आ कर यहा बैठा ?' वह बोली यह किसी कामके कारणसे पुत्रके ऊपर क्रोधित हुवा था वह ाग कर यहा आ घुसा था और मैंने उसको कुठीलेमें घुसा कर बचालिया. और सके पिताने यहा ढूढ कर न देखा इसलिये यह दडनायक क्रोधित-सा जा हा है फिर वह उसके पुत्रको कुठीलेसे बाहर निकाल कर दिखाने लगी.

था चोक्तम्,—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥ ११९॥

जैसा कहा है—स्त्रियोंका आहार दुगुना, बुद्धि चौगुनी, साहस छ गुणा और नका काम आठगुणा कहा है॥ ११९॥

अतोऽहं ब्रवीमि-"उत्पन्नेष्वपि कार्येषु" इत्यादि।' करटको ब्रूते-'अस्त्वेवम्। किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः?'

इसलिये मैं कहता हूं-"कार्यके उत्पन्न होनेमेंभी" इत्यादि।' करटक बोला-ऐसाही होय, परन्तु इन दोनोंका आपसमें स्वभावसे बढा हुआ बडा स्नेह कैसे छुड़ाया जा सकता है?'

दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम्। तथा चोक्तम्,—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः'॥ १२०॥

दमनक बोला-'उपाय करो। जैसा कहा है कि—जो उपायसे हो सकता है वह पराक्रमसे नहीं हो सकता है जैसे कागलीने सोनेके हारसे काले सापको मार डाला'॥ १२०॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्?' दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा-'यह कथा कैसे है?' दमनक कहने लगा।—

॥ कथा ८॥

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदंपती निवसतः। तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह—'नाथ! त्यज्यतामयं तरुः। अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः संततिः सततं भक्ष्यते।

किसी वृक्ष पर काग और कागली रहा करते थे उनके बच्चे उसके खो॰ रहने वाला काला साप खाता था। पीछे फिर गर्भवती कागली कागसे लगी–'हे स्वामी! इस पेड़को छोड़ो, इसमें रहने वाला सर्प हमारे बच्चे खा जाया करता है,

यतः,—

> दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
> ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥ १२१॥

क्योंकि—दुष्ट स्त्री, धूर्त्त मित्र, उत्तर देने वाला सेवक, सर्प वाले रहना, मानो साक्षात् मृत्युही है, इसमें सदेह नहीं है॥ १२१॥

वायसो ब्रूते–'प्रिये! न भेतव्यम्। वारंवारं मयैतस्य सोढ॰। इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः।' वायस्याह—'कथमेतेन सार्धं भवान्विग्रहीतुं समर्थः?' वायसो ब्रूते—'अलमनया शङ्कया

काग बोला–'प्यारी! डरना नहीं चाहिये, वार वार मैंने इसका अपराध है अब फिर क्षमा नहीं करूगा।' कागली बोली–'किस प्रकार ऐसे साथ तुम लड़ सकते हो?' काग बोला–'यह शका मत करो।

यत॰,—

> बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
> पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः'॥ १२२॥

क्योंकि—जिसको बुद्धि है उसको बल है और जो निर्बुद्धि है उसको कहांसे आवे। देख, मदसे उन्मत्त सिंहको शशकने मार डाला'॥ १२२॥

वायसी विहस्याह—'कथमेतत्?' वायसः कथयति—

कागली हंस कर बोली–'यह कथा कैसे है?' तब काग कहने लगा।—

॥ कथा ९॥

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः। स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते। ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र! किमर्थमेकदा बहुपशुघातः क्रियते? यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत्।' ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते। अथ कदाचिद्वृद्धशशकस्य वारः समायातः।

किये हुए एक एक पशुको खाया करता था। फिर एक दिन एक बूढे शशक (खरगोश-) की वारी आई.

सोऽचिन्तयत्—

'त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीवितःशया।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे?॥ १२३॥

वह सोचने लगा—'जीनेकी आशासे भयके कारणकी अर्थात् मारने वालेकी विनय की जाती है और जब मरनाही ठहरा, फिर मुझे सिंहकी विनतीसे क्या काम है?॥ १२३॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि।' ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपादमुवाच—'कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि?' शशकोऽब्रवीत्—'देव! नाहमपराधी। आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः। तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमागतोऽस्मि।' सिंहः सकोपमाह—'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय क्व स दुरात्मा तिष्ठति।' ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपं दर्शयितुं गतः। तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन्कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान्। ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"बुद्धिर्यस्य" इत्यादि'॥ वायस्याह—'श्रुतं मया सर्वम्। संप्रति यथा कर्तव्यं तद्ब्रूहि।' वायसोऽवदत्—'अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति। स्नानसमये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन्कोटरे धारयिष्यसि।' अथ कदाचित्स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"उपायेन हि यच्छक्यम्" इत्यादि॥' करटको ब्रूते—'यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते सन्तु पन्थानः।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—'देव! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि।

इसलिये धीरे धीरे चलता हूं. पीछे सिंहभी भूखका मारा झुझला कर उससे बोला—'तू किसलिये देर करके आया है? शशक बोला—'महाराज! मैं अपराधी नहीं हूं, मार्गमें आते हुए मुझको दूसरे सिंहने बलसे पकड लिया था। उसके सामने फिर लौट जानेकी सौगन्द खा कर स्वामीको जतानेके लिये यहा आया हूं.' सिंह क्रोधयुक्त हो कर बोला—'शीघ्र चल कर दुष्टको दिखला कि वह दुष्ट कहा बैठा है.' फिर शशक उसे साथ ले कर एक गहरा कुआ दिखलानेको ले गया। वहा पहुच कर "स्वामी! आपही देख लिजिये" यह कह कर उस कुएके जलमें उसी सिंहकी परछाही दिखला दी फिर वह क्रोधसे दहाड कर घमंडसे उसके ऊपर अपनेको गिरा कर मर गया। इसलिये मैं कहता हूं—"जिसकी बुद्धि है" इत्यादि।'

कागली बोली—'मैंने सब सुन लिया. अब जो करना है सो कहो।' फिर
बोला—'यहा पासही सरोवरमे राजपुत्र नित्य आ कर न्हाता है। न्हानेके
उसके अगले उतारे हुए और घाट पर धरे हुए सोनेके हारको चोंचसे पकड़
बिलेमें ला कर धर दीजियो।' पीछे एक दिन राजपुत्रके न्हानेके लिये
उतरने पर कागलीने वही किया. फिर सोनेके हारके पीछे ढूढ खखोल करते
राजाके पुरुषोंने उस वृक्षके बिलेमें काले सापको देखा और मार डाला इसी
मैं कहता हू—"उपायसे जो हो सकता है" इत्यादि' करटक बोला—'जो ऐसा है
चले जाओ, तुमारे मार्ग कल्याणकारी होयँ।' पीछे दमनक पिंगलकके
जा कर प्रणाम करके बोला—'महाराज! नाशकारी और बडे भयके करने
किसी कामको जान कर आया हूं

यतः,—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेपु च।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः॥ १२४॥

क्योंकि—आपत्तिमें, कुमार्गसे जाने पर, कामका समय बीतनेमें हितकारी
मनुष्य बिना पूछेभी कल्याणकारी बात कह दे॥ १२४॥

अन्यच्च,—

भोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यभाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते॥ १२५॥

और दूसरे—राजा भोगका पात्र है अर्थात् सुख भोगनेके लिये है, कुछ काम
करनेके लिये नहीं है, राजाके कार्यको नाश करने (बिगाडने) वाला मन्त्री
दोषभागी होता है॥ १२५॥

तथा हि पश्य। अमात्यानामेष क्रमः,—

और देखो मन्त्रियोंकी यह रीति है,—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्तनम्।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्'॥ १२६॥

प्राणका त्याग और शिरका कट जानाभी अच्छा है परन्तु राजाको मार
[illegible] इच्छा करने वालेको छोड न देना अच्छा नहीं है॥ १२६॥

पिङ्गलकः सादरमाह—'अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति?' दम
नको ब्रूते—'देव! संजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते।
तथा चास्मत्संनिधाने श्रीमद्देवपादानां शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा
राज्यमेवाभिलषति।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं साश्चर्यं मत्वा
तूष्णीं स्थितः। दमनकः पुनराह—'देव! सर्वामात्यपरित्यागं
कृत्वैक एवायं यत्त्वया सर्वाधिकारी कृतः स एव दोषः।

पिंगलक आदरसे बोला—'तू क्या कहना चाहता है?' दमनक बोला—'[illegible]
संजीवक तुम्हारे ऊपर [illegible] व्यवहार करने वालासा दीखता है और मेरे पास
[illegible] तीनों शक्तियोंकी निन्दा करके राज्यको लेना चाहता है।

* [illegible], उत्साह और [illegible]।

कर पिंगलक भय और आश्चर्यसे मान कर चुप हो गया ॥ दमनक फिर
ग-'महाराज! सब मन्त्रियोंको छोड़ कर एक इसीको जो तुमने सब कामका
धकारी बना रक्खा है वही दोष है ॥

ा:,—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२७ ॥

क्योंकि—राजलक्ष्मी राजाके तथा मन्त्रीके अधिक उन्नति पाने पर चरणोंमे
र कर (दोनोंकी) सेवा करती है और फिर स्त्रीके स्वभावसे उन दोनोंके भारको
हीं सह कर दोनोंमेंसे एकको छोड़ देती है ॥ १२७ ॥

पर च,—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते।
निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति ॥१२८॥

और दूसरे-जब राजा राज्य पर एक मन्त्रीको (सब कामका) मुखिया कर
ता है तब उसे अभिमानसे मद हो जाता है और मदान्धताके आलस्यसे
आपसमे फूट हो जाती है और फिर फूट होनेसे उसके हृदयमे स्वाधीनताका
अभिलाप होता है, अर्थात् स्वाधीन होना चाहता है, और फिर स्वाधीनताके
लाभकी इच्छासे वह मन्त्री राजाके प्राण लेने तक की शत्रुता करता है॥१२८॥

अन्यच्च,—

विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥ १२९ ॥

और-विषयुक्त अन्नको, हिलते हुए दातको, और दुष्ट मन्त्रीको जड़से उखाड
डालना सुखही है ॥ १२९ ॥

किं च,—

यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्संचारकैर्विना ॥ १३० ॥

और जो राजा, लक्ष्मीको मन्त्रीके आधीन कर देता है वह राजा उस
मन्त्रीके मरण आदि विपत्तिमे गिरने पर चलाने वालेके विना, अंधेके समान दुःख
पाता है ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते। तदत्र प्रमाणं स्वामी। एतच्च
जानाति।

और सब कार्योंमें अपनी इच्छापूर्वक करता है, इसलिये इसमें स्वामी
प्रमाण है अर्थात् रुचे सो कीजिये, और आप यह जानते हैं—

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम्।
परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः?' ॥ १३१

संसारमें ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो लक्ष्मीको न चाहता हो, पर और सुन्दर स्त्रीको चावसे, कौन नहीं देखता है? अर्थात् सब देखते हैं ॥

सिंहो विमृश्याह—'भद्र ! यद्यप्येवं तथापि संजीवकेन मम महान् स्नेहः।

सिंहने विचार कर कहा—'हे शुभचिंतक! जो ऐसाभी है तोभी सं साथ मेरा अत्यन्त स्नेह है।

पश्य,—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ॥ १३२ ॥

देख—बुराइयां करता हुआभी जो प्यारा है सो तो प्याराही है, जैसे तरे दोषोंसे दूषित भी शरीर किसको प्यारा नहीं है ॥ १३२ ॥

अन्यच्च,—

अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः?' ॥ १३३ ॥

और दूसरे—अप्रिय करने वाला भी जो प्यारा है सो तो प्याराही है, सुन्दर मन्दिरको जलाने वाली भी अग्निमें किसका आदर नहीं होता है'' ।

दमनकः पुनरेवाह—'देव ! स एवातिदोषः।

दमनक फिरभी कहने लगा—'हे महाराज ! वही अधिक दोष है,

यतः,—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः ॥ १३४

राजा—पुत्र, मन्त्री तथा साधारण मनुष्य इनमेंसे जिसके ऊपर अधिक दृष्टि करता है लक्ष्मी उसी पुरुषकी सेवा करती है ॥ १३४ ॥

शृणु देव !—

महाराज ! सुनिये,—

:,—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रति मानयेत्।
नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः' ॥ १३६ ॥

क्योंकि—पुराने सेवकोंको छोड़ कर नये आये हुओंका सत्कार नहीं करना
हिये, क्योंकि इससे बढ़ कर कोई दोष राज्यमें फूट करने वाला नहीं है' १३६

सिंहो ब्रूते—'महदाश्चर्यम्। मया यदभयवाचं दत्त्वानीतः संव-
तश्च। तत्कथं मह्यं द्रुह्यति।'

सिंह बोला—'बड़ा आश्चर्य है! मैं जिसे अभय वाचा दे कर लाया और उसको
या सो मुझसे क्यों वैर करता है?'

नको ब्रूते—'देव!

दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥ १३७ ॥

दमनक बोला—'महाराज! जैसे मली गई और तैल आदि लगानेसे सीधी
री गई कुत्तेकी पूंछ सीधी नहीं होती है वैसेही दुर्जन नित्य आदर करनेसेभी
धा नहीं होता है ॥ १३७ ॥

परं च,—

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ १३८ ॥

और दूसरे—तपाई गई, मली गई, डोरीसे लपेटी गई और बारह बरसके
छे खोली गई कुत्तेकी पूछ टेढीही रहती है ॥ १३८ ॥

न्यच्च,—

वर्धनं वाथ सन्मानं खलानां प्रीतये कुतः।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ १३९ ॥

(और धन आदि दे कर) बढाना अथवा सन्मान करना दुष्टोंकी प्रसन्नताके
लिये कहा हो सकता है? अर्थात् उपकार करने पर भी वे बुराईही करेंगे। जैसे
विषके वृक्ष अमृतसे सींचनेसेभी मीठे फल नहीं देते हैं ॥ १३९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—

अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्।
एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १४० ॥

इस लिये मैं कहता हू कि—जिसके पराजयकी इच्छा न करे उसके विना
पूछेभी हितकारक वचन कहना चाहिये, क्योंकि यही सज्जनोंका धर्म है और
इसके विपरीत अधर्म है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्,—

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥ १४१ ॥

जैसा कहा है कि–जो विपत्तिसे बचाता है वही स्नेही है, जो निर्मल अर्थात् दोषरहित है वही कर्म है, जो (पतिकी) आज्ञामें चले वही स्त्री है, जिसका सज्जन आदर करें वही बुद्धिमान् है, जो अहंकारको उत्पन्न न करे वही संपत्ति है, जो तृष्णाके रहित है वही सुखी है, जो निष्कपट है वही मित्र है और जो इन्द्रियोंके वशमें नहीं है वही पुरुष है ॥ १४१ ॥

यदि संजीवकव्यसनार्दितो विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तदीदृशि भृत्ये न दोषः।

और जो संजीवकके स्नेहमें फँसे हुए स्वामी जताने पर भी न मानें तो मुझ सेवक पर दोष नहीं है ॥

तथा च,—

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव।
ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने
तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम्' ॥ १४२ ॥

और जो कहा है कि–भोगमें आसक्त राजा कार्यको और हितकारी वचनको नहीं [illegible] है और मतवाले हाथीकी भांति अपनी इच्छानुसार जो [illegible] है [illegible] करता है और फिर घमंडका मारा जब शोकमें जा गिरता है तो [illegible] दोष मढ़ता है और अपने बुरे आचरणको नहीं जानता है ॥ १४२ ॥

दमनकः (स्वगतम्).—

तथा ह्युक्तम्,—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

औरभी कहा है—इस गुप्त मन्त्ररूपी बीजकी जिस किसी प्रकारसे रक्षा करे और थोडाभी न फूटने दे, क्योंकि वह फूटा हुआ नहीं उगता है, अर्थात् रहस्यको गुप्त रक्खे, क्योंकि वह खोलनेसे सफल (कार्य साधक) नहीं होता है ॥१४५॥

किंच,—

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ १४६ ॥

और लेना देना और करनेका काम ये शीघ्र नहीं किये जायँ तो इनका रस समय पी लेता है, अर्थात् समय पर चूक जानेसे काम बिगड जाता है ॥१४६॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन संपादनीयम्।

इसलिये अवश्य आरंभ किये हुए कामको बडे यत्नसे सिद्ध करना चाहिये.

किंच,—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १४७ ॥

क्योंकि,—जैसे कवच आदिसे ढके हुए अंग वाला भी डरपोक योद्धा पराजयके भयसे युद्धमें बहुत देर तक नहीं ठहर सकता है वैसेही उपाय आदि सब अंगोंसे गुप्त विचार भी दूसरे शत्रुओंके भेदकी शंकासे बहुत काल तक गुप्त नहीं रहता है, अर्थात् प्रकट हो जाता है, और रहस्यके खुल जाने पर कार्यहानि होती है ॥ १४७ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य संधातव्यस्तदतीवानुचितम्।

जो इसका दोष देख लेने पर भी दोषको दूर कर फिर मेल करना तो औरभी अनुचित है,

यतः,—

सकृद्दुष्टं तु यो मित्रं पुनः संधातुमिच्छति।
स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा' ॥ १४८ ॥

क्योंकि,—जो मनुष्य एक बार दुष्टपना किये हुए मित्रके साथ फिर मेल करना चाहता है वह मृत्युको ऐसे बुलाता है जैसे अश्वतरी गर्भको[1]' ॥ १४८ ॥

सिंहो ब्रूते—'ज्ञायतां तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः?' दमनक आह—'देव!

सिंह बोला—'पहिले यह तो समझलो कि वह हमारा क्या कर सकता है?' दमनकने कहा—'महाराज!

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः' ॥ १४९ ॥

---

१ अश्वतरी एक प्रकारकी खच्चर गधी होती है. उसका बच्चा पेट फाड़ कर निकलता है और वह मर जाती है.

शरीरको और शरीरधारीके कामको विना जाने कैसे सामर्थ्यका निर्णय हो सकता है ' देखो, केवल एक टटीरीने समुद्रको व्याकुल कर दिया' ॥ १४९ ॥

सिंहः पृच्छति—'कथमेतत्?' दमनकः कथयति—

सिंह पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' दमनक कहने लगा।—

॥ कथा १० ॥

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदंपती निवसतः। तत्र चासन्नप्रसवा टिट्टिभी भर्तारमाह—'नाथ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसंधीयतां नाम्।' टिट्टिभोऽवदत्—'भार्ये! नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्।' सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतत्।' टिट्टिभोऽवदत्—'किमहं निर्बलः समुद्रेण निग्रहीतव्यः?' टिट्टिभी विहस्याह—'स्वामिन्' त्वया समुद्रेण च महदन्तरम्।

तत्र गत्वा सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—'देव! समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।' ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवन्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायादिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि-"अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा" इत्यादि' ॥ राजाह—'कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति?' दमनको ब्रूते—'यदासौ सदर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।' एवमुक्त्वा संजीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । संजीवकेन सादरमुक्तम्—'भद्र! कुशलं ते?' दमनको ब्रूते—'अनुजीविनां कुतः कुशलम्?

फिर कष्टसे स्वामीके कहनेसे उस टटीरीने वहाँही अंडे धरे । यह सब सुन कर समुद्रभी उसकी सामर्थ्य टटोलनेके लिये उसके अंडे वहा ले गया तब टटीरी शोकसे दीन हो कर पतिसे कहने लगी-'हे स्वामी! बड़ा कष्ट आ पडा, वे मेरे अंडे नष्ट हो गये।' टटीरा बोला-'प्यारी! डर मत।' ऐसा कह कर और सब पक्षियोंको साथ ले कर वह पक्षियोंके स्वामी गरुडजीके पास गया । वहाँ जा कर टटीरेने सब समाचार भगवान् गरुडजीके सामने निवेदन कर दिया कि—'हे महाराज! समुद्रने मुझ अपने घर बैठे हुएको विना अपराधही सताया है।' तब उसकी बात सुन कर गरुडजीने सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण प्रभु भगवान् नारायणको जता दिया । उन्होंने समुद्रको अंडे देनेकी आज्ञा दे दी । तब भगवान्की आज्ञाको सिर पर रख कर समुद्रने उन अंडोंको टटीरेको सौंप दिया । इसलिये मैं कहता हू-"शरीर और शरीरधारीके कामको विना जाने" इत्यादि ।' राजा बोला-'यह कैसे जाना जाय कि वह द्रोह करने लगा है?' दमनकने कहा—'जब वह घमंडसे सींगोंकी नोंकको मारनेके लिये सामने करता हुआ निडर-सा आवे तब स्वामी आपही जान जायगे ।' इस प्रकार कह कर संजीवकके पास गया और वहाँ जा कर धीरे धीरे पास खिसकता खिसकता अपनेको मन मलीन-सा दिखाया । संजीवकने आदरसे कहा-'मित्र! कुशल तो है?' दमनकने कहा-'सेवकोंको कुशल कहाँ?

यतः,—

संपत्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ १५२ ॥

क्योंकि,—जो राजाके सेवक हैं उनकी संपत्तियाँ पराधीन, मन सदा दुखी और तो क्या युद्ध इत्यादिकी शंकासे वे अपने जीनेकाभी भरोसा नहीं रखते हैं ॥ १५२ ॥

अन्यच्च,—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः?
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रियः?
कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं?
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्? ॥ १५३ ॥

और दूसरे—कौनसा मनुष्य धनको पा कर अहंकारी नहीं होता है? कि[illegible] जनोंको आपत्तियाँ नहीं घेरती हैं? स्त्रियोंने किसका मन नहीं डिगाया? राजाओंका कौन प्यारा है? कौनसा मनुष्य कालकी भुजाओंके बीचमें नहीं गया? [illegible] माँगनेवालेका सन्मान हुआ है? और कौनसा पुरुष दुर्जनोंके कपटमें पड़ कर कुशल आया है? ॥ १५३ ॥

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे! ब्रूहि किमेतत्?' दमनक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः?

संजीवकने कहा—'मित्र! कहो तो यह क्या बात है?' दमनकने कहा—मैं मंदभागी क्या कहूँ?

पश्य,—

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम्।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति ॥ १५४ ॥

[illegible] डूबता हुआ जो मनुष्य सर्पका सहारा पा कर न तो छोड़ सकता है न पकड़ सकता है [illegible] इस समय मैं मूढ़ हूँ कि क्या करूँ ॥ १५४ ॥

यतः,—

एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः।
किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे' ॥ १५५ ॥

सुनो, तुमारे ऊपर कोपित इस स्वामीने एकातमें कहा है कि सजीवकको मार कर अपने परिवारको दूगा।' यह सुनतेही सजीवकको बडा विषाद हुआ। फिर दमनक बोला-'विषाद मत करो, अवसरके अनुसार काम करो' सजीवक छिन भर चित्तमे विचार कर कहने लगा-'निश्चय यह ठीक कहता है, अथवा दुर्जनका यह काम है अथवा नहीं है, यह व्यवहारसे निर्णय नहीं हो सकता है.

वत,—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा।
कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५६ ॥

क्योंकि—स्त्रियाँ दुर्जनोंके पास जाती हैं, बहुधा राजा कुपात्रोंका पालन करता है, धन कृपणके पास जाता है और इन्द्र पहाड और समुद्रमें वरसता है ॥ १५६ ॥

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५७ ॥

कोई २ दुर्जन (अपना) आश्रयकी सुन्दरतासे, सुन्दर स्त्रियोंके नेत्रोंमें आँजे ए मैला काजलके समान, शोभा पाता है ॥ १५७ ॥

तत्र विचिन्त्योक्तम्—'कष्टं किमिदमापतितम्?'

उसने विचार कर कहा-'यह क्या कष्ट आ पडा?'

तः,—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्ना-
न्न तोषमायाति किमत्र चित्रम्।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो
यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

क्योंकि—राजा बडे यत्नसे सेवा करने पर भी प्रसन्न नहीं होता है इसमें या आश्चर्य है, क्योंकि यह एक अनोखीही देवताकी मूर्ति है जो सेवा करने र भी शत्रुता करती है ॥ १५८ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः।

इस लिये इस बातका कुछ भेद नही जाना जाता है।

दय,—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति? ॥ १५९ ॥

क्योंकि—जो निश्चय करके किसी कारणसे क्रोध करता है वह उस कारणके नाश हो जाने पर अवश्य प्रसन्न हो जाता है, पर जिसका मन विनाही कारण वैर करने लगा है उसको मनुष्य कैसे प्रसन्न करेगा? ॥ १५९ ॥

किं मयापकृतं राज्ञः? अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः।' दमनको ब्रूते—'एवमेतत्। शृणु।

क्योंकि—दूरसे ऊँचे हाथ उठाना, प्रीतिसे रसीले नेत्र करना, आधा आसन बठनेके लिये देना, अच्छे प्रकारसे मिलना, प्रिय कथाके पूछनेमें आदर करना, भीतर विषयुक्त अर्थात् कपटयुक्त और बाहरसे मीठी २ बातें करना यह जिसमें हो और अत्यन्त मायासे भरा होना—यह कौनसा अपूर्व नाटकका व्यवहार है जो दुर्जनोंने सीखा है! ॥ १६४ ॥

तथा हि,—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः' ॥ १६५ ॥

और—दुस्तर समुद्रके पार होनेके लिये नाव, अंधकारके आने पर दीपक, वायुरहित समयमें पंखा, और मद वाले हाथीका घमंड दूर करनेके लिये अंकुश—इस प्रकार इस संसारमें ब्रह्माने हरएक विषयके उपायकी चिंता नहीं की हो ऐसी बात नहीं है, पर मैं मानता हूं कि दुर्जनोंके चित्तकी वृत्ति दूर करनेमें विधाताभी उद्योगरहित (विफल-प्रयत्न) हो गया ॥ १६५ ॥

संजीवकः पुनर्निःश्वस्य—'कष्टं भोः! कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन निपातयितव्यः?

संजीवक फिर साँस भर कर (बोला)—अरे! बड़े कष्टकी बात है, कैसे सिंह मुझ घासके चरने वालेको मारेगा?

यतः,—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम्।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १६६ ॥

क्योंकि—जिन दोनोंका समान वित्त और समानही बल होय उन दोनोंका विरोध हो सकता है, किंतु सबल और निर्बलका तो कदापि नहीं होता है ॥ १६६ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) केनायं राजा ममोपरि विकारितो न जाने। भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम्।

(फिर सोच कर) किसने इस राजाको मुझसे क्रोधित करा दिया नहीं जानता हूं। और, स्नेह छूटे राजासे सदा डरना चाहिये।

यतः,—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित्।
वलयं स्फटिकस्येव को हि संधातुमीश्वरः? ॥ १६७ ॥

क्योंकि—किसी काममें मंत्रीसे फटे हुये राजाके चित्तको काचकी चूड़ीके समान कौन जोड़नेको समर्थ हो सकता है? अर्थात् वह सर्वथा अशक्य है ॥

१ कोई ग्रंथमें 'तयोर्विवादो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्' ऐसा पाठ है, यहां पर 'उनकी दोनोंका वाद और स्नेह हो सकता है, उत्तम और अधमका नहीं' ऐसा अर्थ समझना।

क्योंकि-तेजहीन बलवान्को कौनसा मनुष्य पराजय नहीं कर सकता है? अर्थात् सब कर सकते हैं। देखो, मनुष्य तेजहीन राखके ढेरमें निडर हो कर पैर देते है ॥ १७३ ॥

किंतु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेन्न त्वं नाहम्' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः । करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम् ?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः ।' करटको ब्रूते—'कोऽत्र संदेहः ?

परन्तु यह सब बात गुप्त ही करने योग्य है । नहीं तो न तुम और न मैं' यह कह कर दमनक करटकके पास गया ॥ तब करटकने कहा–'क्या हुआ ?' दमनकने कहा–'दोनोंके आपसमें फूट फैल गई ।' करटक बोला–'इसमें क्या संदेह है?

यतः,—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ? ॥ १७४ ॥

दुष्टोंका कौन बन्धु है ? माँगनेसे कौन नहीं क्रोधित होता है ? धन(पाने)से कौनसा मनुष्य घमंड नहीं करता है ? और बुरा काम करनेमें कौनसा मनुष्य चतुर नहीं है? ॥ १७४ ॥

अन्यच्च,—

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ?' ॥ १७५ ॥

और दूसरे–धूर्त मनुष्य अपनी बढतीके लिये धनवान्को दुराचारी कर देते हैं, इसलिये दुष्टोंका संसर्ग अग्निके समान क्या क्या नहीं करता है ? याने वह सब अनर्थोंकी जड है' ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव ! समागतोऽसौ पापाशयः । ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास । संजीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोर्युद्धे संजीवकः सिंहेन व्यापादितः ।

तब दमनकने पिंगलकके पास जा कर—'हे महाराज ! वह पापी आ पहुँचा है, इसलिये सम्हाल कर बैठ जाइये'—यह कह कर पहिले जताए हुए आकारको करा दिया संजीवकने भी आ कर वैसेही बदली हुई चेष्टा वाले सिंहको देख कर अपने योग्य पराक्रम किया । फिर उन दोनोंकी लडाईमें संजीवकको सिंहने मार डाला ।

अथ संजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति । ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम् ?

अपरं च,—

राज्यलोभादहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम्।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम्॥ १८१॥

और दूसरे-राज्यके लोभसे अथवा अहंकारसे स्वामीके पदको चाहने वाले सेवकका, उस पापको नाश करनेमें प्राणोंका त्यागही एक प्रायश्चित्त है, और दूसरा कोई नहीं है॥ १८१॥

अन्यच्च,—

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षः
स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति॥ १८२॥

और अत्यन्त दयालु राजा, सर्वभक्षी अर्थात् अत्यत लोभी ब्राह्मण, अवश स्त्री, बुरी प्रकृति वाला सहायक, उत्तर देने वाला नोकर, असावधान अधिकारी, और पराये उपकारको नहीं मानने वाला—ये त्यागनेके योग्य हैं॥ १८२॥

विशेषतश्च,—

सत्यानृता सपरुषा प्रियवादिनी च
हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा'॥ १८३॥

और विशेष करके-राजाकी नीति, कभी सच्ची, कभी झूठी, कभी कड़ी, कभी नरम, कभी हिंसा करने वाली, कभी दयालु, कभी धन लेने वाली, कभी उदार, कभी सदा व्यय करने वाली, कभी अनेक रत्न और धनको इकट्ठा करने वाली, वेश्याके समान बहुत प्रकारकी है'॥ १८३॥

इति दमनकेन संतोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः। दमनकः प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजः, शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः।

इस प्रकार जब दमनकने सतोष दिलाया तब पिंगलकका जीमें जी आया और सिंहासन पर बैठा। दमनक प्रसन्न चित्त हो कर "जय होय महाराजकी, सब ससारका कल्याण होय" यह कह कर आनन्दसे रहने लगा।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः।' राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुतः। सुखिनो भूता वयम्'।

विष्णुशर्मा बोले—'आपने सुहृद्भेद सुन लिया?' राजकुमार बोले-आपकी कृपासे सुना और हम बहुत सुखी हुए।'

हितोपदेशः ।

॥ विग्रहः ॥

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! राजपुत्रा वयम् । तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'यदेव भवद्भ्यो रोचते कथयामि । विग्रहः श्रूयतां यस्यायमाद्यः श्लोकः—

फिर कथाके आरम्भके समय राजपुत्रोंने कहा—'गुरुजी ! हम राजकुमार हैं । इसलिये विग्रह सुननेकी इच्छा है ।' विष्णुशर्माने कहा—'जो आपको अच्छा लगे वही कहता हूं । विग्रह सुनिये कि जिसका पहला वाक्य यह है—

हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।
विश्वासवञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वारिमन्दिरे' ॥ १ ॥

हंसोंके साथ मोरोंके तुल्य पराक्रमके युद्धमें कौओंने शत्रुके गढमें रह कर और विश्वास उपजा कर हंसोंको ठगा' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—'यह कहानी कैसे है ?' विष्णुशर्मा कहने लगे—

॥ कथा १ ॥

अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः । तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति । स च सर्वैर्जलचरपक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः ।

कर्पूरद्वीपमें पद्मकेलि नाम एक सरोवर है, वहाँ हिरण्यगर्भ नाम एक राजहंस रहता था और सब जलचारी पक्षियोंने मिल कर उसे पक्षियोंके राज्य पर राज-तिलक किया था ।

यतः,—

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २ ॥

क्योंकि—जो संसारमें अच्छा प्रजापालक राजा न हो तो प्रजा, समुद्रमें कर्णधार(खेवटिये)से रहित नावके समान डूब जाती है ॥ २ ॥

अपरं च,—

प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम् ।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

और दूसरे—राजा प्रजाकी रक्षा करता है और वह (प्रजा) कर आदि दे कर राजाको बढाती है, बढानेसे रक्षा कल्याणकारी है, और रक्षाके बिना सचमुच होनाभी नहीं होनेके समान है ॥ ३ ॥

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखासीनः परि-

और दूसरे–बुद्धिमान्कोही उपदेश करना चाहिये, मूर्खको कभी न करे, पक्षी वन्दरोंको उपदेश करनेसे स्थान छोड कर चले गये' ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' दीर्घमुखः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है ?' दीर्घमुख कहने लगा—

॥ कथा २ ॥

अस्ति नर्मदातीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणो निवसन्ति सुखेन । अथैकदा वर्षासु नीलपटलैरावृते नभस्तले धारासारैर्महती वृष्टिर्बभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताकुलान् कम्पमानानवलोक्य कृपया पक्षिभिरुक्तम्—'भो भो वानराः ! शृणुत,—

नर्मदाके तीर पर एक बडा सेमरका वृक्ष है । उस पर पक्षी घोंसला बना कर उसके भीतर, सुखसे रहा करते थे । फिर एक दिन वरसातमें नीले नीले बादलों से आकाशमडलके छा जाने पर बडी बडी बूंदोंसे मूसलधार मेघ बरसने लगा और फिर वृक्षके नीचे बैठे हुए वन्दरोंको ठडके मारे थर थर काँपते हुए देख कर पक्षियोंने दयासे विचार कहा—'अरे भाइ वन्दरो ! सुनो,—

अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमिति सीदथ?' ॥ ६ ॥

हमने केवल अपनी चोंचोंसे इकट्ठे किये हुए तिनकोंसे घोंसले बनाये हे, और तुम तो हाथ, पाँव आदिसे युक्त हो कर फिर ऐसा दु ख क्यो भोगते हो ?' ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जातामर्षैरालोचितम्—'अहो ! निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति । भवतु तावद्वृष्टेरुपशमः ।' अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नास्तेषामण्डानि चाधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—"विद्वानेवोपदेष्टव्यः" इत्यादि ।' राजोवाच–'ततस्तैः किं कृतम् ?' बक. कथयति—'ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्—'केनासौ राजहंसो राजा कृतः?' ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'युष्मदीयमयूरः केन राजा कृतः?' एतच्छ्रुत्वा ते सर्वे मां हन्तुमुद्यताः । ततो मयापि स्वविक्रमो दर्शितः ।

यह सुन वन्दरोने झुंझला कर विचारा—'अरे ! पवनरहित घोंसलोंके भीतर बैठे हुए सुखी पक्षी हमारी निन्दा करते हैं, करने दो । जब तक वर्षा बद हो, बाद जब पानीका बरसना बद हो गया तब उन वन्दरोंने पेड़ पर चढ़ कर सब घोंसले तोड़ डाले, और उन्होंके अडे नीचे गिरा दिये, इसलिये मैं कहता हूँ–"बुद्धिमान्कोही उपदेश करना चाहिये" इत्यादि ।' राजा बोला–'तब उन्होंने क्या किया ?' बगला कहने लगा–फिर उन पक्षियोंने क्रोधसे कहा–'किसने इस राज-

हंसको राजा बनाया है ?' तब मैंने झुंझला कर कहा—'तुम्हारे मोरको किसने राजा बनाया है ?' यह सुन कर वे सब मुझे मारनेको तयार हुए। तब मैंनेभी अपना पराक्रम दिखाया।

यतः,—

'अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम्।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

क्योंकि—रतिकालको छोड़ कर स्त्रियोंको लज्जा जैसा अलंकार है वैसा पराजयसे भिन्न समयमें पुरुष को क्षमा आभूषण है, और पराजयके समय रतिकालमें स्त्रियोंको निर्लज्जताके समान, पराक्रमही प्रशंसाके योग्य है' ॥ ७ ॥

राजा विहस्याह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम्।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ ८ ॥

राजा हँस कर बोला—'जो अपनी और शत्रुओंकी निर्बलता और सबलता विचार कर, अंतर नहीं जानता है उसका शत्रु तिरस्कार (पराजय) करते हैं, अर्थात् अपना और शत्रूका बलाबल जानना विद्वान्को अत्यावश्यक है ॥ ८ ॥

अन्यच्च,—

सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान्।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो वाग्दोषाद्गर्दभो हतः' ॥ ९ ॥

और दूसरे—जैसे अनाजके खेतमें बहुत दिन तक नित्य नाज चरता हुआ मूर्ख गधा बाघम्बर ओढ़े हुए वाणीके दोषसे अर्थात् रेंकनेसे मारा गया' ॥ ९ ॥

बकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' राजा कथयति—

बगला पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' राजा कहने लगा।—

॥ कथा ३ ॥

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः। तस्य गर्दभो ऽतिवाहनाद्दुर्बलो मुमूर्षुरिवाभवत्। ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे नियुक्तः। ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते। अथैकदा केनापि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं सज्जीकृत्यानतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं च दूराद्दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो गर्दभोऽयमिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः। सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दान्निश्चित्य गर्दभोऽयमिति लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"सुचिरं हि चरन्नित्यम्" इत्यादि' ॥ दीर्घमुखो ब्रूते—ततः पक्षिभिरुक्तम्—'अरे पाप दुष्ट बक! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि ? तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्' इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा सकोपा ऊचुः—'पश्य

मूर्ख! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः । तस्य राज्याधिकारो नास्ति । यत एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः स कथं पृथिवीं शास्ति? राज्यं वा तस्य किम्? किंतु त्वं च कूपमण्डूकः । तेन तदाश्रयमुपदिशसि ।

हस्तिनापुरमें एक विलास नाम धोबी रहता था । उसका गधा अधिक बोझ ढोनेसे दुबला मरासू-सा हो गया था । फिर उस धोबीने इसे बाघकी खाल उढा कर वनके पास नाजके खेतमें रख दिया । फिर दूरसे उसे देख कर और बाघ समझ, खेत वाले शीघ्र भाग जाते थे । इसके अनन्तर एक दिन कोई खेतका रखवाला धूसर रंगका कंबल ओढे हुए धनुष बाण चढा कर शरीरको नौढा कर एकांतमें बैठ गया । उधर मन माना अन्न चरनेसे बलवान्, तथा मदमाता हुआ गधा उसे देख कर और गधा जान कर ढंचू ढंचू स्वरसे रेंकता हुआ उसके सामने दौड़ा । तब खेतवालेने, रेंकनेके शब्दसे इसको गधा निश्चय करके सहजमेंही मार डाला । इसलिये मैं कहता हूँ–"बहुत काल तक चरता हुआ" इत्यादि ।' दीर्घमुख बोला–फिर पक्षियोंने कहा–'अरे पापी दुष्ट बगले ! तू हमारी भूमिमें चुग कर हमारेही स्वामीकी निन्दा करता है? इसलिये अब क्षमा करनेके योग्य नहीं है ।' यह कह कर सब मुझे चोंचोंसे मार कर क्रोधसे बोले–'अरे मूर्ख ! देख, वह हंस तेरा राजा सब प्रकारसे भोला है, उसको राज्यका अधिकार नहीं है । क्योंकि निरा भोला हथेली पर धरे हुए धनकीभी रक्षा नहीं कर सकता है । वह कैसे पृथ्वीका राज्य करता है? अथवा उसका राज्यही क्या है? वरन तूभी कुएका मेंडक है । इसलिये उसके आश्रयका उपदेश करता है ।

शृणु,—

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः ।
यदि दैवात्फलं नास्ति च्छाया केन निवार्यते? ॥ १० ॥

सुन,–फल और छायासे युक्त बड़े वृक्षकी सेवा करनी चाहिये । जो भाग्यसे फल नहीं है तो छायाको कौन भला दूर कर सकता है? ॥ १० ॥

अन्यच्च,—

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

और दूसरे—नीचकी सेवा नहीं करनी चाहिये, बडोंका आश्रय करना चाहिये, जैसे कलारिनके हाथमें दूधकोभी लोग वारुणी (शराब) समझते हैं ११

अन्यच्च,—

महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

और गुणहीनमें बड़ेभी गुणका कहना लघुताको प्राप्त होता है, जैसे आधार[1] और आधेय[2]भावसे दर्पणमें हाथीका प्रतिबिंब छोटा दीखता है ॥ १२ ॥

---

१ जिसमें वस्तु रक्खी जाय २ वस्तु

विशेषतश्च,—

> व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे।
> शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १३ ॥

और विशेष करके राजाके सबल होने पर उसके छल(मिस)सेभी कार्य सिद्ध हो जाता है। जैसे चन्द्रमाके छल(मिस)से शशक (खरगोश) सुखसे रहे' ॥१३॥

मयोक्तम्—'कथमेतत्?' पक्षिणः कथयन्ति—

मैंने कहा—'यह कथा कैसी है?' पक्षी कहने लगे।—

॥ कथा ४ ॥

कदाचिदपि वर्षासु वृष्टेरभावात्तृषार्तो गजयूथो यूथपतिमाह—'नाथ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय? नास्ति क्षुद्रजन्तूनां निमज्जनस्थानम्। वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताहा इव। किं कुर्मः? क्व यामः?' ततो हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान्। ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिता गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः क्षुद्रशशकाः।' अनन्तर शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास—'अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमत्रागन्तव्यम्। अतो विनश्यत्यस्मत्कुलम्।' ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विषीदत। मयात्र प्रतीकारः कर्तव्यः।' ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः। गच्छता च तेनालोचितम्—'कथं गजयूथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम्?

यूथनाथ उवाच—'कस्त्वम्? कुतः समायातः?' स ब्रूते—'शशकोऽहम्। भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः।' यूथपतिराह—'कार्यमुच्यताम्।'

इसलिये मैं पहाड़की चोटी पर बैठ कर झुंडके स्वामीसे अच्छे प्रकारसे बोलूँ। ऐसा करने पर झुंडका स्वामी बोला—'तू कौन है? कहाँसे आया है?' वह बोला-'मैं शशक हूँ। भगवान् चन्द्रमाने आपके पास भेजा है।' झुंडके स्वामीने कहा—'काम कह।'

विजयो ब्रूते—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः॥ १५॥

विजय बोला—शस्त्रोंके उठाये जाने पर भी दूत कुछकी कुछ नहीं करता है, क्योंकि सब कालमें नहीं मारे जानेसे वह निश्चय करके यथार्थका कहने वाला होता है॥ १५॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि। शृणु। यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम्। ते शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः। अत एव मे शशाङ्क इति प्रसिद्धिः।' एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—'प्रणिधेहि। इदमज्ञानतः कृतम्। पुनर्न कर्तव्यम्।' दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य गच्छ।' ततो रात्रौ यूथपतिं नीत्वा जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा यूथपतिः प्रणामं कारितः। उक्तं च तेन—'देव! अज्ञानादनेनापराधः कृतः, ततः क्षम्यताम्। नैवं वारान्तरं विधास्यते' इत्युक्त्वा प्रस्थापितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्" इति। ततो मयोक्तम्—'स एवास्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्?' इति। तदाहं तैः पक्षिभिः 'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि?' इत्यभिधाय राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः। ततो राज्ञः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्—'देव! अवधीयतामेष दुष्टो बको यदस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति।' राजाह—'कोऽयम्? कुतः समायातः?' त ऊचुः—'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः?' अथाहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तत्र मुख्यो मन्त्री?' इति। मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः।' गृध्रो ब्रूते—'युज्यते। स्वदेशजोऽसौ।

इसलिये मैं उनकी आज्ञासे कहता हूँ। सुनिये, जो ये चन्द्रमाके सरोवरके

---

१ 'साधुर्वा यदि वाऽसाधुः परैरेष समर्पितः।
ब्रुवन् परार्थं परवान् न दूतो वधमर्हति' (सु. का. ५२-२१)
भावार्थ यह है कि, दूत पराया (एवं दूसरोंके शब्द पर चलने वाला) होनेसे भला-बुरा होने पर भी अवध्य है

रखवाले शशकोंको आपने निकाल दिया है यह अनुचित किया । वे शशक हमारे बहुत दिनसे रक्षित हैं इसीलिये मेरा नाम "शशाङ्क" प्रसिद्ध है। दूतके ऐसा कहतेही हाथियोंका स्वामी भयसे यह बोला–'सोच लो, यह बात बिना जाने की है । फिर नहीं करूंगा ।' दूतने कहा–'जो ऐसा है तो इस सरोवरमें क्रोधसे काँपते हुए भगवान् चन्द्रमाजीको प्रणाम कर, और प्रसन्न करके चला जा । फिर रातको झुंडके स्वामीको ले जा कर और जलमें हिलते हुए चन्द्रमाके गोलेको दिखा कर झुंडके स्वामीसे प्रणाम कराया और इसने कहा–'हे महाराज ! भूलसे इसने अपराध किया है इसलिये क्षमा कीजिये, फिर ऐसा नहीं करेगा', यह कह कर बिदा किया । इसलिये मैं कहता हूं–"छलमेंभी काम सिद्ध होजाता है ।" फिर मैंने कहा–'वह हमारा स्वामी राजहंस तो बड़ा प्रतापी और अत्यन्त समर्थ है । तीनों लोककीभी प्रभुता उसके योग्य है फिर यह राज्य क्या है ? तब वे पक्षी मुझे "हे दुष्ट ! हमारी भूमिमें क्यों घूमता है" यह कह कर चित्रवर्ण राजाके पास ले गये । फिर राजाके सामने मुझे दिखला कर उन्होंने प्रणाम करके कहा–'महाराज ! ध्यान दे कर सुनिये । यह दुष्ट बगला हमारे देशमें घूमता हुआभी आपकी निन्दा करता है ।' राजा बोला–'यह कौन है ? कहांसे आया है ?' वे कहने लगे–'हिरण्यगर्भ नाम राजहंसका अनुचर कर्पूरद्वीपसे आया है । फिर गिद्ध मन्त्रीने मुझसे पूछा–'वहाँ मुख्य मन्त्री कौन है ?' मैंने कहा–'सब शास्त्रोंको पढ़ा हुआ सर्वज्ञ नाम चकवा है । गिद्ध बोला–'ठीक है । वह स्वदेशी है,

यतः,—

स्वदेशजं कुलाचारं विशुद्धमुपधाशुचिम् ।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १६ ॥

क्योंकि—स्वदेशी, कुलकी रीतिमें निपुण, धर्मशील अर्थात् उत्कोच (रिशवत) भी रखे नहीं लेने वाला, विचार करनेमें चतुर, द्यूत, पान आदि व्यसन तथा व्यभिचारसे रहित । ॥ १६ ॥

अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः' ॥ १७ ॥

युद्ध इत्यादि व्यवहारको जानने वाला, कुलीन, विख्यात पण्डित, धन उत्पन्न करने वाला ऐसेको राजा मंत्री बनावे' ॥ १७ ॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव । तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम्' । ततो राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव ।

इस अवसरमें तोतेने कहा–'महाराज ! कर्पूरद्वीप आदि छोटे छोटे द्वीप जम्बूद्वीपके भीतर हैं और वहाँभी महाराजकी ही राज्य है ।' राजाभी फिर बोला–'ऐसे ही है,

यतः,—

राजा मत्तः शिशुश्चैव प्रमदा धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १८ ॥

क्योंकि—राजा, विक्षिप्त, बालक, प्रमादी, धनका अहकारी, ये दुर्लभ वस्तु-कीभी इच्छा किया करते हैं, फिर जो मिल सकती है उसका तो कहनाही क्या है? ॥ १८ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्यं सिध्यति तदा जम्बुद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णयः?' मयोक्तम्—'संग्राम एव।' राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु। तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्।' राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन? यत एवंभूतो दूत. कार्यः।

फिर मैंने कहा कि, जो केवल कहनेसेभी राज्य सिद्ध हुआ जाता है तो जम्बूद्वीपमेंभी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भका राज्य है।' तोता वोला—'इसमें कैसे निर्णय हो?' मैंने कहा–'संग्रामही है।' राजाने हँस कर कहा–'अपने स्वामीको जा कर तयार कर।' तव मैंने कहा—'अपने दूतकोभी भेजिये।' राजाने कहा–'दूत वन कर कौन जायगा? क्योंकि ऐसा दूत करना चाहिये,—

भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी।
ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ १९ ॥

भक्त अर्थात् राजाका हितकारी, गुणवान्, शुद्ध अर्थात् उत्कोच (रिशवत) आदि लाभरहित, कार्यमें चतुर, वोल-चालमें निपुण, घूत, पान आदि व्यसनसे रहित, क्षमाशील, ब्राह्मण, शत्रुके भेदको जानने वाला और बुद्धिमान् होवे ॥१९॥

गृध्रो वदति—'सन्त्येव दूता वहवः। किंतु ब्राह्मण एव कर्तव्यः।

सिद्ध वोला–'दूत तो वहुतसे हैं परन्तु ब्राह्मणकोही करना चाहिये।

यतः,—

प्रसादं कुरुते पत्युः संपत्तिं नाभिवाञ्छति।
कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसंगमात्' ॥ २० ॥

क्योंकि–वह स्वामीको प्रसन्न करता है और सपत्तिको नहीं चाहता है, और जैसे महादेवजीके सगसे विपकी कालोंच नहीं जाती है वैसेही इसकीभी प्रकृति नहीं वदलती ॥ २० ॥

राजाह—'ततः शुक एव व्रजतु। शुक! त्वमेवानेन सह गत्वास्मदभिलषितं ब्रूहि।' शुको ब्रूते—'यथाज्ञापयति देवः। किंत्वयं दुर्जनो बकः। तदनेन सह न गच्छामि॥

राजा वोला–'फिर तोताही जाय। हे तोते! तूही इसके साथ वहाँ जा कर हमारा संदेसा भुगता दे।' तोता वोला—'जो आज्ञा श्रीमहाराजकी। पर यह बगला दुष्ट है। इसलिये इसके साथ नहीं जाऊंगा।

तथा चोक्तम्,—

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीतां वन्धनं स्यान्महोदधेः ॥ २१ ॥

जैसा कहा है—दुष्ट जो बुराई करता है वह बुराई सचमुच साधुओं पर फल करती है, अर्थात् उन्हें दु:ख भुगतना पड़ता है। जैसे रावणने सीताको हर ले गया और समुद्र बाँधा गया॥ २१॥

अपर च,—

> न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित्।
> काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन्गच्छंश्च वर्तकः॥ २२॥'

और दूसरे—दुष्टके साथ कभी न तो बैठना चाहिये और न जाना चाहिये, जैसे कौएके साथ रह कर हंस और उड़ता हुआ बटेर मारे गये'॥ २२॥

राजोवाच—'कथमेतत्?' शुकः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है?' तोता कहने लगा।—

॥ कथा ९॥

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः। तत्र हंसकाकौ निवसतः। कदाचिद्ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुःकाण्डं संनिधाय सुप्तः। तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद्वृक्षच्छायापगता। ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य तद्वृक्षस्थितेन हंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना तेन मुखव्यादानं कृतम्। अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतो व्यापादितः॥ वर्तककथामपि कथयामि—

उज्जयिनीके मार्गमें एक पाकरका पेड़ था। उस पर हंस और काग रहते थे। एक दिन गरमीके समय थका हुआ कोई बटोही उस पेड़के नीचे धनुषबाण धरके सो गया। थोड़ी देरमें उसके मुखपरसे पेड़की छाया ढल गई। फिर सूर्यके तेजसे उसके मुखको तमता हुआ देख कर उस पेड़ पर बैठे हुए हंसने दया विचार पंखोंको पसार फिर उसके मुख पर छाया कर दीनी। फिर गहरी नींदके आनन्दसे उसने मुख फाड़ दिया। पीछे पराये सुखको नहीं सहने वाला स्वभावकी दुष्टतासे वह काग उसके मुखमें बीट करके उड़ गया। फिर जो उस बटोहीने उठ कर ऊपर देखा तो उसको हंस दीखा, उसे बाणसे मार दिया और वह मर गया॥ बटेरकी कथा भी कहता हूं।

कथा॥ १०॥

एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः। ततः काकेन सह वर्तकश्चलितः। अथ गोपालस्य गच्छतो दधिभाण्डाद्वारंवारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते तावत्तेन काकवर्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन खेदितः काकः पलायितः। वर्तकः स्वभावनिर

पराधो मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"न स्थातव्यं न गन्तव्यम्" इत्यादि ॥ ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि? मां प्रति यथा श्रीमद्देवस्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्।

एक समय गरुड़जीकी यात्राके निमित्तसे सब पक्षी समुद्रके तीर पर गये। फिर कौएके साथ एक बटेरभी चला। पीछे जाते हुए अहीरकी दहीकी हाँडीमेंसे बार बार कौआ दही खाने लगा। फिर ज्योंही इसने दहीकी हाँडीको धरती पर रख कर ऊँचेको देखा त्योंही उसको कौआ और बटेर दीख पड़े। फिर उससे खदेड़ा हुआ कौआ उड़ गया। और स्वभावसे अपराधहीन हौले हौले जाने वाले बटेरको उसने पकड़ लिया और मार डाला। इसलिये मैं कहताहूँ—"न बैठना चाहिये और न जाना चाहिये" इत्यादि। फिर मैंने कहा—'भाई तोते! क्यों ऐसे कहते हो? मेरे जाने जैसे श्रीमहाराज वैसेही तुम हो।' तोतेने कहा—'ऐसेही ठीक है।

किन्तु,—

दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि ॥ २३ ॥

परन्तु—दुष्टोंसे कहे हुए वचन चाहे जैसे अच्छे और प्यारे हों, वे कुऋतुके पुष्पोंके समान भय उत्पन्न करतेही हैं ॥ २३ ॥

दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम्।

और तेरा दुष्टपणा तो तेरी बातसेही जान लिया गया कि इन राजाओंके युद्धमें तेरा वचनही मूल कारण है।

पश्य,—

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाकरोत्' ॥ २४ ॥

देखो—मूर्ख सामने किये हुए दोषको देख कर भी मीठे मीठे वचनोंसे प्रसन्न हो जाता है, जैसे एक बढ़ईने यारसमेत अपनी स्त्री सिर पर धर लिया' ॥ २४ ॥

राज्ञोक्तम्—'कथमेतत्?' शुकः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है?' तोता कहने लगा—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः। स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति। जारेण समं स्वचक्षुषा नैकस्थानं पश्यति। ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामि' इत्युक्त्वा चलितः। कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः। अथ रथकारो ग्रामान्तरं गत इत्युपजातविश्वासः स जारः संध्याकाल एवागतः। पश्चात्तेन समं तस्मिन्पर्यङ्के क्रीडन्ती पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किंचिदङ्गस्पर्शा-

स्वामिनं मायाविनमिति विज्ञाय विषण्णाभवत्। ततो जारेणो-
क्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे? विस्मितेव
प्रतिभासि मे त्वम्?' तयोक्तम्—'अनभिज्ञोऽसि। मम प्राणेश्वरो
येन ममाकौमारं सख्यं सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः। तेन विना
सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवद्भाति। किं भावि तत्र
परस्थाने किं खादितवान् कथं वा प्रसुप्त इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते।'
जारो ब्रूते—'तव किमेवं स्नेहभूमी रथकारः?' बन्धक्यवदत्—
'रे बर्बर! किं वदसि?

यौवनश्रीनगरमें मदमति नाम बढ़ई रहता था, और वह अपनी स्त्री
छिनाल जानता था। पर यारके संग अपनी आँखोंसे एक स्थानमें नहीं देखता
था। बाद वह बढ़ई "मैं दूसरे गाँवको जाता हूँ" यह कह कर चला गया।
थोड़ी दूर जा कर और फिर लौट आ कर पलंगके नीचे अपने घरमें छुप कर
बैठ गया। फिर, बढ़ई दूसरे गाँवको गया इस विश्वासका मारा वह यार दिन
डूबतेही आ गया। पीछे उसके साथ उसी पलंग पर क्रीड़ा करती हुई पलंगके
नीचे बैठे हुए स्वामीकी थोड़ी देहके छू जानेसे स्वामीको छलिया जान कर उदास
हो गई। तब यारने कहा—'क्या बात है? तू आज मेरे साथ जी खोल कर नहीं
रमण करती है? तू मुझे कुछ दुखिती-सी समझ पड़ती है।' उसने कहा—'तू
नहीं जानता है। मेरा प्राणप्यारा कि जिसके साथ मेरी बाल्यावस्थासे प्रीति है
सो आज दूसरे गाँवको गया है। उसके बिना सब जनोंसे भरा हुआ भी यह
गाँव मुझे वन-सा जान पड़ता है। क्या होनहार है, वहाँ दूसरे स्थानमें क्या
खाया होगा और कैसे सोया होगा इस कारण मेरा हिरदा फटा जाता है।'
यारने कहा—'क्या तेरा बढ़ई ऐसा स्नेह करने वाला है?' छिनाल बोली—'अरे
मूर्ख! क्या कहता है?

शृणु,—

परुषाण्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभागिनी ॥ २५ ॥

जिसे—दुष्ट वाक्य और निठुर वचन चाहे कहे और क्रोधकी आँखसे
देखे पर जो सदा मालिकके मुखको प्रसन्न रक्खे वह स्त्री धर्मकी भागी
होती है ॥ २५ ॥

अन्यच्च,—

और स्त्रियोंका भूषणोंके विनाही पति परम भूषण है, उससे रहित यह स्त्री रूपवतीभी कुरूपा है ॥ २७ ॥

त्वं जारः पापमतिः। मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित्सेव्यसे कदाचिन्न सेव्यसे च। स च स्वामी मां विक्रेतुं देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽपि दातुमीश्वरः। किं बहुना, तस्मिञ्जीवति जीवामि तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामीति प्रतिज्ञा वर्तते।

तू तो पापबुद्धी यार है। चित्तकी चचलतासे पुष्प-तांबूलके समान है, कभी सेवा किया जाता है और कभी नहीं किया जाता है। और वह स्वामी मुझे बेचनेके लिये और देवता और ब्राह्मणोंको देनेके लियेभी समर्थ है। अधिक क्या कहूँ? उसके जीते मैं जीती हूं, उसके मरने पर सती हो जाऊँगी यह मेरी प्रतिज्ञा है।

यतः,—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥ २८ ॥

क्योंकि–जो स्त्री पतिकी आज्ञामें चलती है वह, मनुष्य (शरीर)के ऊपर जो तीन करोड़ पचास लाख लोम (रोंगटे) हैं उतने वर्ष तक स्वर्गमें वसती है ॥

अन्यच्च,—

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
तद्वद्भर्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते ॥ २९ ॥

और दूसरे–जैसे मदारी (मन्त्रके प्रभावसे) साँपको बिलेसे बलसे खींचता है वैसेही स्त्री (पतिव्रतका प्रभावसे) पतिको स्वर्गलोकमें ले जा कर सुख भोगती है ॥

अपरं च,—

चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः।
कृत्वापि पापं शतसंख्यमप्यसौ
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात्' ॥ ३० ॥

और–जो स्त्री चितामें अपने मरे हुए भर्ताको गोदमें ले कर अपने शरीरको छोड़ती (सती हो जाती) है वह सौ पाप करकेभी पतिको ले कर स्वर्गलोकको जाती है' ॥ ३० ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा स रथकारोऽवदत्—'धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी स्वामिवत्सला भार्या' इति मनसि निधाय तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा सानन्दं ननर्त। अतोऽहं ब्रवीमि—"प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे" इत्यादि ॥ ततोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं संपूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्तव्यमनुसंधीयताम्।' चक्र-

वाको विहस्याह—'देव! बकेन तावद्देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किंतु देव! स्वभाव एष मूर्खाणाम्।

यह सब सुन कर वह बढ़ई बोला—'मैं धन्य हूं जिसकी ऐसी निष्ठावती स्वामीको प्यार करने वाली स्त्री है। यह मनमे ठान, उन स्त्रीपुरुषसहित खाटको सिर पर रख कर वह आनन्दसे नाचने लगा। इसलिये मैं कहता हूं—"प्रत्यक्ष दोष किये जाने परभी" इत्यादि। फिर उस राजाने वहांकी रीतिके अनुसार तिलक कर मुझे विदा किया। तोताभी मेरे पीछे पीछे आ रहा है। यह सब बात जान कर जो करना है सो करिये। चकवेने हंस कर कहा—'महाराज! बगलेने प्रदेश जा कर भी शक्तिके अनुसार राजकार्य किया, परन्तु महाराज! मूर्खोंका यही स्वभाव है।

यतः,—

> शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य संमतम्।
> विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्' ॥ २१ ॥

क्योंकि—अपनी सैकड़ों हानि करे परन्तु विवाद न करे यह बुद्धिमानोंका मत है, और विना कारणभी कलह कर बैठे यह मूर्खका लक्षण है' ॥ २१ ॥

राजाह—'किमतीतोपालम्भनेन? प्रस्तुतमनुसंधीयताम्।' चक्रवाको ब्रूते—'देव! विजने ब्रवीमि।

राजा बोला—'जो हो गया उसके उलहनेसे क्या (फायदा) है? अब जो करना है उसे करो।' चकवा बोला—'महाराज! एकांतमें कहूँगा।

यतः,—

> वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः।
> अभ्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्' ॥ २२ ॥

क्योंकि—रंग, रूप, चेष्टा, स्वर, नेत्र और मुख इनके बदलनेसे चतुर मनुष्य मनकी बात जान लेते हैं इसलिये एकान्तमें गुप्त वार्ता करनी चाहिये ॥ २२ ॥

राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ। अन्येऽन्यत्र गताः। चक्रवाको ब्रूते—'देव! अहमेवं जानामि। कस्याप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्।

राजा और मन्त्री वहां रहे। और सब इधर उधर स्थानको चले गये। चकवा बोला—'हे महाराज! मैं ऐसा जानता हूं कि किसी हमारे सेवकके प्रेरणासे बगलेने यह किया है।

यतः,—

राजाब्रवीत्—'भवतु। कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्। संप्रति यत्कर्तव्यं तन्निरूप्यताम्।' चक्रवाको ब्रूते—'देव! प्रणिधिस्तावत्प्रहीयताम्। ततस्तदनुष्ठानं बलाबलं च जानीमः।

राजा बोला—'जो कुछ हो, इसमें जो कारण है उसका पीछे निश्चय कर लिया जायगा, अब जो कुछ करना है उसका निर्णय करो।' चकवा बोला—'हे महाराज! पहले किसी भेदियेको भेजिये, फिर उसका काम और बलाबल जाने।

तथा हि,—

भवेत्स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने।
चारश्चक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ ३४॥

जैसा कहा है—राजाओंका अपने, तथा शत्रुके राज्योंके, अच्छे तथा बुरे कर्मोंके देखनेके लिये भेदियाही नेत्र (गूढ मन्त्र जानने वाला) होता है और जिसके नहीं होता है वह सचमुच अंधाही है॥ ३४॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनासौ स्वयं तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य निगद्य प्रस्थापयति।

और वह दूसरे विश्वासी पुरुषको साथ ले जाय, जिससे वह आप वहाँ अपनेको ठहरा कर दूसरेको वहाँका मन्त्रकार्य गुप्त लगा कर इसको समझा कर विदा करदे।

तथा चोक्तम्,—

तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवदेत्॥ ३५॥

जैसा कहा है—तीर्थ, आश्रम और देवताके स्थानमें शास्त्रके ज्ञानके छलसे तपस्वियोंके रूपको धारण किये हुए अपने भेदियोंके द्वारा राजाको शत्रुके राज्यका भेद जानना चाहिये॥ ३५॥

गूढचारश्च यो जले स्थले चरति। ततोऽसावेव बको नियुज्यताम्। एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु। तद्गृहलोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु, किंतु देव! एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्।

और गुप्त भेदिया वह है जो जलमें और थलमें जाता है, फिर इस बगलेकोही नियुक्त कीजिये। ऐसाही कोई दूसरा बगला जाय। और उसके घरके लोग राजद्वारमें रहें। परंतु हे महाराज! यह कार्यभी अत्यन्त गुप्त करना चाहिये।

यतः,—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता॥ ३६॥

क्योंकि—छः कानमें गुप्त बात जानेसे तथा औरोंसे विदित हुई बात खुल जाती है, इसलिये राजाको केवल एकहीसे अर्थात् अकेले मन्त्रीसेही (एकान्तमें) विचार करना चाहिये॥ ३६॥

पश्य,—

मन्त्रभेदेऽपि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्' ॥ ३७ ॥

देखो,—हे राजा! मन्त्रका भेद खुल जाने पर जो बुराइयाँ होती हैं। सुधर नहीं सकती हैं यह नीति जानने वालोंका मत है' ॥ ३७ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः।' मन्त्री ब्रूते—'तदा संग्रामविजयोऽपि प्राप्तः।'

राजा विचार कर बोला—'मुझे भेदिया तो उत्तम मिल गया।' मंत्री बोले—'तो युद्धमें विजयभी मिल गई।

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव! जम्बुद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति।' राजा चक्रवाकमालोकते। चक्रवाकेणोक्तम्—'तावद्गत्वावासे तिष्ठतु पश्चादानीय द्रष्टव्यः।' प्रतीहारस्तमावासस्थानं नीत्वा गतः। राजाह—'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः'। चक्रो ब्रूते—'देव! प्रागेव विग्रहो न विधिः।

अपरं च,—

सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि ॥ ४१ ॥

और विग्रह(युद्ध)में गये विना सभी मनुष्य शूर हैं, क्योंकि शत्रुकी सामर्थ्यको नहीं जानने वाला ऐसा कौन है जो घमंडी न होय? ॥ ४१ ॥

किंच,—

न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत् ॥ ४२ ॥

और पत्थरकी शिला जैसी कि काठके यन्त्रसे उठाई जाती है ऐसी प्राणियोंसे नहीं उठाई जाती है, इसलिये छोटे उपायसे वडा लाभ होना यह वड़े मन्त्रकाही फल है ॥ ४२ ॥

किंतु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्।

परंतु विग्रहको उपस्थित देख कर उपाय कीजिये,

यतः,—

यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत्।
तद्वन्नीतिरियं देव! चिरात्फलति रक्षणात् ॥ ४३ ॥

क्योंकि—जैसे ठीक समय पर उद्योग करनेसे (अर्थात् हल इत्यादि चलाने तथा बीज बोनेसे) खेती फलती है वैसेही हे राजा! यह नीतिभी वहुत काल रक्षा करनेसे फलती है ॥ ४३ ॥

अपरं च,—

महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः।
विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति ॥ ४४ ॥

और संसारमें बुद्धिमानोंको आपत्तिमें, दूरसे डर लगता है, पास आने पर अपनी शूरताका गुण दिखाते हैं, और महात्मा पुरुष विपत्तिमें धीरज धरते हैं ॥४४॥

अन्यच्च,—

प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ॥ ४५ ॥

और दूसरे-किसीके वचनको न सहना यह सव सिद्धियोंका सचमुच मुख्य विघ्न है, जैसे ठंडा जलभी क्या पहाड़को नहीं उखाड डालता है? अर्थात् पुरुष ठंडे दिलसे दूसरेका वचन सुन लेना चाहिये, फिर योग्य हो सो करे, एव वह जरुर सिद्धि पावेगा ॥ ४५ ॥

विशेषतश्च महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा।

और विशेप करके वह चित्रवर्ण राजा वडा वलवान् है।

यतः,—

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत् ॥ ४६ ॥

इसलिये—बलवान्के साथ लड़ना यह शूरताका चिह्न नहीं है, क्योंकि मनुष्योंको हाथीके साथ लड़ना मृत्युको पहुँचाता है ॥ ४६ ॥

अन्यच्च,—

स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते ।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा ॥ ४७ ॥

और जो अवसरके विना पाये शत्रुसे भिड़ जाता है वह मूर्ख है, और बलवान् के साथ कलह करना चेंटीके पक्ष निकलनेके समान है ॥ ४७ ॥

किंच,—

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
प्रातकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥ ४८ ॥

और नीति जाननेवाला कछुएके मुख सकोड़नेके समान प्रहारकोभी सहे और अवसर मिलनेपर क्रूर सर्पके समान उठ बैठे ॥ ४८ ॥

महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः ॥ ४९ ॥

उपायका जाननेवाला बड़े और छोटे शत्रुके नाश करनेमें समान समर्थ होता है, जैसे नदीका वेग तृण और वृक्षोंको जड़से उखाड़नेको समर्थ होता है ॥ ४९ ॥

अतस्तस्य दूतोऽप्याश्वास्य तावद्ध्रियतां यावद्दुर्गं सज्जीक्रियते ।

इसलिये इसके दूतको भी आशा देकर तब तक ठहरा लीजिये कि जब तक गढ़ ठीक होता है,

यतः,—

विस्तीर्णतातिवैषम्यं रसधान्येध्मसंग्रहः।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसंपदः' ॥ ५३ ॥

लंबा, चौडा, ऊँचा, नीचा, जल, अन्न और इंधन इनका संग्रह, और जाने तथा आनेका मार्ग, ये गढकी सात सामग्रियाँ हैं' ॥ ५३ ॥

राजाह—'दुर्गानुसंधाने को नियुज्यताम्?'

राजा बोला–'गढ़ बनानेमें किसे नियुक्त करना चाहिये?'

चक्रो ब्रूते—

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ॥ ५४ ॥

चकवा बोला—'जो जिस काममें चतुर हो उसको उसमें नियत कर देना चाहिये, क्योंकि जिसने कामोंकी क्रिया नहीं देखी है ऐसा बुद्धिमान्‌भी गडबडा जाता है ॥५४॥

तदाहूयतां सारसः।' तथानुष्ठिते सत्यागतं सारसमालोक्य राजोवाच—'भोः सारस! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसंधेहि।' सारसः प्रणम्योवाच—'देव! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते महत्सरः। किंत्वत्र मध्यवर्तिद्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम्।

इसलिये सारसको बुलाओ। ऐसा करने पर सारसको आया देख राजा बोला–'हे सारस! तू शीघ्र गढको बना।' सारसने प्रणाम करके कहा—'महाराज! गढ तो बहुत कालसे देखाभाला यही बड़ा सरोवर ठीक है। परन्तु इस बीचके द्वीपमें सामग्री इकट्ठी किया जावे,

यतः,—

धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि—हे राजा! सब संग्रहसे अन्नका संग्रह श्रेष्ठ है, क्योंकि मुखमें रक्खा हुआ रत्न अर्थात् धन प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सकता है ॥ ५५ ॥

किंच,—

ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते' ॥ ५६ ॥

और–सब रसोंमें प्रसिद्ध नोन रस सचमुच उत्तम है कि जिसके विना ग्रहण किया हुआ भोजनका पदार्थ गोबर सा (स्वादरहित) लगता है ॥ ५६ ॥

राजाह—'सत्वरं गत्वा सर्वमनुतिष्ठ।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—'देव! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि तिष्ठति। देवपादं द्रष्टुमिच्छति।' राजाह—'काकः पुनः सर्वज्ञो बहुदृश्वा च। तद्भवति संग्राह्य इत्यनुवर्तते।' चक्रो ब्रूते—'देव! अस्त्येवम्। किंतु काकः स्थलचरः। तेनास्मद्विपक्षे नियुक्तः कथं संग्राह्यः?

राजा बोला–'शीघ्र जा कर सब तयारी कर।' फिर द्वारपाल आ कर बोला–

ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः।' ततस्तथानुष्ठिते सति तद्वृत्तम्।

वह प्रसिद्ध है कि वनमें कोई गीदड़ अपनी इच्छासे नगरके पास घूमते घूमते नीलके हौदेमें गिर गया। पीछे उसमेंसे निकल नहीं सका, प्रात काल अपनेको मरेके समान दिखला कर बैठ गया। फिर नीलके हौदेके स्वामीने इसे मरा हुआ जान कर और उसमेंसे निकाल कर दूर ले जा कर फेक दिया और वहांसे वह भाग गया। तब उसने वनमें जा कर और अपनी देहको नीले रगकी देख कर विचार किया—'मैं अब उत्तम वर्ण हो गया हू तो मैं अपनी प्रभुता क्यों न करू? यह विचार सियारोंको बुला कर, उसने कहा—'श्रीभगवती वनकी देवीने अपने हाथसे वनके राज्य पर सब ओषधियोंके रससे मेरा राजतिलक किया है इसलिये आजसे ले कर मेरी आज्ञासे काम करना चाहिये।' और सियार उसके अच्छा वर्ण देख कर साष्टाग दडवत प्रणाम करके बोले-'जो महाराजकी आज्ञा। इसी प्रकारसे क्रम क्रमसे सब वनवासियोंमें उसका राज्य फैल गया। फिर उसने अपनी जातसे चारों ओर बैठा कर अपना ऐश्वर्य फैलाया, पीछे उसने व्याघ्र सिंह आदि उत्तम मन्त्रियोंको पा कर सभामें सियारोंको देख कर लजके मारे अनादरसे सब अपने जातभाइयोंको दूर कर दिया। फिर सियारोंको विरस देख कर किसी बूढे सियारने यह प्रतिज्ञा की कि 'तुम खेद मत करो। जैसे इस मूर्खने नीति तथा भेदके जानने वाले हम सभीका अपने पाससे अनादर किया है वैसेही जिस प्रकार यह नष्ट होय सो करना चाहिये। क्योंकि ये बाघ आदि, केवल रगसे धोखेमें आ गये हैं और सियार न जान कर इसको राजा मान रहे हैं। जिसमें इसका भेद खुल जाय सो करो। और ऐसा करना चाहिये कि सध्याके समय उसके पास सभी एक सग चिल्लाओ। फिर उस शब्दको सुन कर अपने जातिके स्वभावसे वहभी चिल्लाने उठेगा। फिर वैसा करने पर वही हुआ अर्थात् उसकी पोल खुल गई,

यतः,—

> यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः।
> श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम्॥ ५८॥

क्योंकि—जिसका जैसा स्वभाव है वह सर्वदा छूटना कठिन है, जैसे यदि कुत्ता राजा कर दिया जाय तो क्या वह जूतेको नहीं चबावेगा?॥ ५८॥

ततः शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हतः।

तब शब्दसे पहिचान कर उसे बाघने मार डाला,

तथा चोक्तम्,—

> छिद्रं मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः।
> दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः॥ ५९॥

जैसा कहा है—जिस प्रकार भीतर घुसके अग्नि सूखे पेड़को भस्म कर देती है वैसेही अपना दुश्मन अर्थात् भेदी, छिद्र (बचावट), मर्म (भेद) और पराक्रम(बल)को जानता है और नाश कर देता है॥ ५९॥

यतो धर्मश्चैषः,—

क्योंकी (सच्चा) धर्म यह है—

दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ६२ ॥

दूत हीन-जाति भी हो पर मारनेके योग्य नहीं होता है, क्योंकि राजाका दूतही मुख है कि जो शस्त्रोंके उठाने परभी विपरीत नहीं कहता है ॥ ६२ ॥

किं च,—

स्वापकर्षं परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ? ।
सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति' ॥ ६३ ॥

और दूतकी बातोंसे अपनी लघुता और शत्रुकी अधिकता कौन मानता है ? दूत तो सदा 'मैं नहीं मारा जाऊंगा' इस भावनासे सभी कुछ कहता है ॥६३॥

ततो राजा काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणानीय प्रबोध्य कनकालंकारादिकं दत्त्वा संप्रेषितो ययौ । शुकोऽपि विन्ध्याचलराजानं प्रणतवान् । राजोवाच—'शुक ! का वार्ता ? कीदृशोऽसौ देशः ?' शुको ब्रूते—'देव ! संक्षेपादियं वार्ता । संप्रति युक्तोद्योगः क्रियताम् । देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते ?' ततः सर्वाञ्शिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः । आह च—'संप्रति कर्तव्यविग्रहे यथा कर्तव्यमुपदेशं ब्रूत । विग्रहः पुनरवश्यं कर्तव्यः ।

फिर राजा और काग अपने आपमें आये । तोताभी उठ कर चला । पीछे चकवेने ला कर और समझा कर और सुवर्णके आभूषण आदि दे कर विदा किया और वह गया। फिर तोतेने विंध्याचलके राजाको दंडवत किया । राजा बोला–'हे तोते ! क्या समाचार है ? वह कैसा देश है ?' तोतेने कहा–'महाराज ! संक्षेपसे यह बात है, अब लड़ाईका ठाठ करिये । यह कर्पूरद्वीप देश एक स्वर्गका टुकड़ा है और राजा दूसरा इन्द्र है । कैसे वर्णन किया जा सकता है ?' फिर सब शिष्टोंको बुला कर परामर्श (सलाह) करनेके लिये बैठ गया और बोला–'अब जो लड़ाई करनी है उसमें जो कुछ करना है सो कहो । फिर लड़ाई तो अवश्य करनीही है ।

तथा चोक्तम्,—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभुजः ।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलस्त्रियः' ॥ ६४ ॥

जैसा कहा है—असंतोषी ब्राह्मण, संतोषी राजा, लज्जावती वेश्या और निर्लज्जा कुलकी स्त्री ये चारों नष्ट होते हैं, अत एव निन्दा करनेके योग्य हैं' ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो ब्रूते—'देव ! व्यसनितया विग्रहो न विधिः ।

दूरदर्शी नाम गिद्ध बोला—'महाराज! बिना अवसरके गमन करनेमें ठीक नहीं है।

यतः,—

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ ६५ ॥

क्योंकि—मित्र, मन्त्री और आपनके लोग जब दृढ़ शुभचिन्तक हों और शत्रुओंके विपरीत हों तब लड़ाई करनी चाहिये ॥ ६५ ॥

अन्यच्च,—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलं त्रयम्।
यदैतन्निश्चितं भावि कर्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६६ ॥

और दूसरे—धरती, मित्र और सुवर्ण यह तीन लड़ाईके बीज हैं, जब ये तीनों निश्चय मिलें तब लड़ाई करनी चाहिये' ॥ ६६ ॥

राजाह—'मद्बलानि तावदवलोकयतु मन्त्री। तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम्। एवमाहूयतां मौहूर्तिकः। निर्णीय शुभलग्नं ददातु।' मन्त्री ब्रूते—'तथापि सहसा यात्राकरणमनुचितम्।

[illegible] फिर इनकी ताकत [illegible]
[illegible]
[illegible] करना उचित नहीं है।

यतः,—

शृणु,—

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ६९ ॥

सुनिये—हे राजा ! नदी, पहाड़ वन तथा कठिन स्थानोंमें जहाँ जहाँ भय होय वहाँ वहाँ सेनापति व्यूह बाँध कर (परेट बना कर) सेनाके साथ जाय ॥ ६९॥

बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद्बलम् ॥ ७० ॥

सेनापति बडे बडे योद्धाओंके साथ अगाडी चले, और बीचमें स्त्रियाँ, स्वामी, कोश (खजाना) और निर्बल सेना जाय ॥ ७० ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां च पदातयः ॥ ७१ ॥

दोनों ओर आसपास घोडे, घोडोंके पार्श्वमें रथ, रथोंके आसपास हाथी और हाथियोंके आसपास पैदल ॥ ७१ ॥

पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ ७२ ॥

सेनापति पीछे वाले साहसहीन पुरुषोंको धीरे धीरे ढाढस बँधाता हुआ जाय और राजा मन्त्रियोंके तथा बडे शूरवीरोंके साथ सेना ले कर जाय ॥ ७२ ॥

समेयाद्विषमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७३ ॥

ऊँची नीची भूमिमें, कीचड़ खोंदेमें, तथा पर्वत पर हाथियों पर जाय, और एकसी भूमीमें घोडों पर, और पानीमें नावोंके द्वारा, और सब देशोंमें पैदल सेनाको साथ ले कर जाना चाहिये ॥ ७३ ॥

हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।
तदन्यत्र तुरगाणां पत्तीनां सर्वदैव हि ॥ ७४ ॥

और वरसातमें हाथियोंका जाना, और ऋतुमें अर्थात् गरमी और जाडेमें घोडोंको और पैदलोंका जाना हमेशा श्रेष्ठ कहा है ॥ ७४ ॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृप ! रक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगनिद्रया ॥ ७५ ॥

हे राजा ! पर्वतोंमें तथा कठिन कठिन मार्गोंमें अपनी रक्षा अर्थात् सावधानता रखनी चाहिये, और अपने योद्धाओंसे रक्षा किये हुए भी राजाको कपटकी नींदसे सोना चाहिये, अर्थात् क्षणक्षणमें अपनी रक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्गकण्टकमर्दनैः ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७६ ॥

गढ़को ढाल कर, टेरेको तोड कर शत्रुका नाश करे अथवा पकड़ बाँधे और

बलमश्वस्य सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे ॥ ८४ ॥

और सेनाओंके बीचमें घोड़ेकी सेना चलने वाला परकोटा है इसलिये जिस ...जाके पास बहुत घोड़े हैं वह स्थलयुद्ध (पटपड़ भूमिके युद्ध)में जीतने ...ला होता है ॥ ८४ ॥

...था चोक्तम्,—

युध्यमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्तिनः ॥ ८५ ॥

वैसा ही कहा है–घोड़ों पर चढ़कर लड़ने वाले देवताओंसे भी नहीं जीते ...ा सकते हैं, उन्होंको दूरके वैरी भी अपने हाथके पास दीखते हैं ॥ ८५ ॥

प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम्।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

हस्ती आदि सब चतुरंग सेनाकी रक्षा करना, युद्धकी पहली चतुरता है और दिशाओंके आने जानेके मार्गोंको काट कर युद्ध कर देना यह पैदल सेनाका ...म कहा है ॥ ८६ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम्।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ८७ ॥

स्वभावहीसे शूर वीर, अस्त्रके चलानेमें चतुर, लड़ाईमें पीठ नहीं देने वाले, ...रिश्रमको सहने वाले और वीरतामें प्रसिद्ध क्षत्रियोंके समान, ऐसी सेनाको ...ण्डित लोग सबसे उत्तम कहते हैं ॥ ८७ ॥

यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते! ॥ ८८ ॥

हे राजा! पृथ्वी पर स्वामीके सन्मान करनेसे जैसे मनुष्य लड़ते हैं वैसे बहुत दिये हुए धनसेभी नहीं लड़ते हैं ॥ ८८ ॥

वरमल्पबलं सारं न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम्।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ८९ ॥

बलवान् थोड़ी-सी सेना अच्छी होती है किंतु बहुत सी मुंडोंकी मंडली अर्थात् बलहीन सेना इकट्ठी न करनी चाहिये, क्योंकि दुर्बलोंका पीठ दे कर संग्रामसे भागना साक्षात् बलवान् सेनाका भी उत्साहभंग कर देता है, याने कायर सेना भाग जाने पर वीरभी उन्हें देख कर कभी कभी भाग उठते हैं ॥ ८९ ॥

अप्रसादोऽनधिष्ठानं देयांशहरणं च यत्।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९० ॥

अप्रसन्न होना, अधिकारी न करना, लूटे हुए धनको आपही ले लेना, वेतन ...ादि देनेमें आज कल कह कर समय बिताना, और सेनाके विरोध आदिमें उपाय न करना ये वैराग्यके अर्थात् स्नेह छूटनेके कारण हैं ॥ ९० ॥

आपीडयन्बलं शत्रोर्जिगीषुरतिशोषयेत्।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम् ॥ ९१ ॥

विजय पानेकी इच्छा करने वाला राजा अपनी सेनाको विश्राम देता हुआ शत्रुसे जा भिड़े, क्योंकि लंबे मार्ग चलनेसे थकी थकाई शत्रुओंकी सेना सहज जीती जा सकती है ॥ ९१ ॥

दायादादपरो मन्त्रो नास्ति भेदकरो द्विषाम्।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः ॥ ९२ ॥

वैरियोंके भाईबेटोंके छोड़ कर फूट कराने वाला दूसरा मन्त्र (उपाय) नहीं है, इसलिये उस शत्रुके नाते-गोतेके पुरुषको प्रयत्नसे उकसावे अर्थात् तोड़ फोड़ कर अपनी ओर मिलावे ॥ ९२ ॥

संधाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा।
अन्तःप्रकोपनं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥ ९३ ॥

युवराजके साथ अथवा मुख्य मन्त्रीके साथ संधि (मेल) करके [illegible] लड़-ठाडे शत्रुके घरमें फूट करा देनी चाहिये ॥ ९३ ॥

क्रूरं मित्रं रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत्।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या तन्मुख्याश्रितबन्धनात् ॥ ९४ ॥

युद्धमें भंग कर भी क्रूर मित्र (राजा) को मार डाले अथवा जैसे गौओंको [illegible] कर लावे है वैसे ही उसके मुख्य सहायक राजाओंको बंधनमें डाल कर [illegible] देना चाहिये ॥ ९४ ॥

स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशापहरणात्।
अथवा दानमानाभ्यां वासितं धनदं हि तत् ॥ ९५ ॥

और राजा [illegible] राज्यसे मनुष्योंको पकड़ ला कर अपने राज्यमें बसावे [illegible] और आदरसे बसाया हुआ वह राज्य ही धन देने वाला होता है ॥ ९५ ॥

राजाह—'आः ! किं बहुनोदितेन ?

राजा बोला—'आः ! बहुत बातोंसे क्या है ?

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतीयते' ॥ ९६ ॥

पर चलने वाला इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है, जैसे निश्चय करके चांदनी और अँधेरेका एक जगह पर होना कहां संभव है? अर्थात् नहीं हो सकता है, इसलिये नीतिविरुद्ध नहीं चलना चाहिये ॥ ९७ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलग्ने प्रस्थितः ।

तब राजा उठ कर ज्योतिषीके बतलाये लग्नमें लड़ाईके लिये विदा हुआ ।

अथ प्रहितप्रणिधिर्हिरण्यगर्भमागत्योवाच-'देव! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । संप्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटकोऽनुवर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसंधातव्यम्, यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किंच केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैव तदिङ्गितमवगतं मया यदनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चक्रो ब्रूते—'देव! काक एवासौ संभवति ।' राजाह—'न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याभिभवोद्योगः कृतः? अपरं च । शुकस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स चिरादत्रास्ते ।' मन्त्री ब्रूते—'तथाप्यागन्तुः शङ्कनीयः ।' राजाह—'आगन्तुका हि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते ।

फिर भेजे हुए दूतने हिरण्यगर्भसे आ कर कहा—'महाराज! राजा चित्रवर्ण आ पहुँचा है । अब मलय पर्वतकी ऊंची भूमि पर डेरा डाल अपनी सेनाको बसा कर ठहरा हुआ है । गढकी देखभाल क्षणक्षणमें करनी चाहिये, क्योंकि यह गिद्ध महामन्त्री है । और किसीके साथ उसकी विश्वासकी बातचीतसेही उसकी चेष्टा मैंने जान ली कि हमारे गढमें इसने किसी न किसीको पहलेसेही लगा रक्खा है ।' चकवा बोला-'महाराज! वह कौवाही होना संभव दीख पड़ता है ।' राजा बोला-'यह बात कभी नहीं है । जो ऐसा होता तो कैसे उसने तोतेके अनादर करनेका उद्योग किया है? और दूसरे तोतेके आनेसे उसको लड़ाईका उत्साह हुआ है । वह यहाँ बहुत दिनोंसे रहता है ।' मन्त्री बोला-'तोभी आने वाले पर संदेह करना ही चाहिये ।' राजा बोला-'आने वाले सचमुच कभी कभी उपकारक दीख पड़ते हैं ।

शृणु,—

> **परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।**
> **अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥ ९८ ॥**

सुन,—हित करने वाला शत्रु भी बन्धु है और अहितकारी बन्धु भी शत्रु होता है जैसे देहसे उत्पन्न हुआ रोग अहितकारी होता है और वनमें उत्पन्न हुई औषध हितकारी होती है ॥ ९८ ॥

अपरं च,—

> **आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।**
> **सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः ॥ ९९ ॥**

और दूसरे-शूद्रक नाम राजाका एक वीरवर नाम सेवक था, उसने थोड़े कालमें अपने पुत्रको दे दिया' ॥ ९९ ॥

चक्रः पृच्छति—'कथमेतत्?' राजा कथयति—

चकवा पूछने लगा-'यह कथा कैसे है?' राजा कहने लगा।—

॥ कथा ९ ॥

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवानभवम्। तत्र वीरवरो नाम महाराजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य राजद्वारमुपगम्य प्रतीहारमुवाच—'अहं तावद्वर्तनार्थी राजपुत्रः। राजदर्शनं कारय।' ततस्तेनासौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते—'देव! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदास्मद्वर्तनं क्रियताम्।' शूद्रक उवाच—'किं ते वर्तनम्?' वीरवरो ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि।' राजाह—'का ते सामग्री?' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू तृतीयश्च खड्गः।' राजाह—'नैतच्छक्यम्।' तच्छ्रुत्वा वीरवरश्चलितः। अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव! दिनचतुष्टयस्य वर्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं किमुपयुक्तोऽयमेतावद्वर्तनं गृह्णात्यनुपयुक्तो वेति'। ततो मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि

नका काम भी राजाने छुप कर देखा। वीरवरने उस धनका आधा देवताओंको और ब्राह्मणोंको अर्पण कर दिया । बचे हुएका आधा दुखियोंको, उससे बचा हुआ भोजनके तथा विलासादिमें खर्च किया । यह सब नित्य काम करके वह राजाके द्वार पर रातदिन हाथमें खड्ग ले कर सेवा करता था और जब राजा आप आज्ञा देता तब अपने घर जाता था ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ राजा सकरुणं क्रन्दनध्वनिं शुश्राव । शूद्रक उवाच—'कः कोऽत्र द्वारि ?' तेनोक्तम्—'देव ! अहं वीरवरः ।' राजोवाच—'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम् ।' वीरवरो 'यथाज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः । राज्ञा च चिन्तितम्—'नैतदुचितम् । अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचिभेद्ये तमसि प्रेरितः । तदनु गत्वा किमेतदिति निरूपयामि ।' ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम । गत्वा च वीरवरेण सा रुदती रूपयौवनसंपन्ना सर्वालंकारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा । पृष्टा च—'का त्वम् ? किमर्थं रोदिषि ?' स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः । चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता । इदानीमन्यत्र गमिष्यामि ।' वीरवरो ब्रूते—'यत्रापायः संभवति तत्रोपायोऽप्यस्ति । तत्कथं स्यात्पुनरिहावलम्बनं भवत्याः ?' लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि' इत्युक्त्वाऽदृश्याभवत् ।

फिर एक समय कृष्णपक्षकी चौदसके दिन, रातको राजाने करुणासहित रोनेका शब्द सुना । शूद्रक बोला-'यहाँ द्वार पर कौन कौन है ?' उसने कहा—'महाराज ! मैं वीरवर हूं ।' राजाने कहा-'रोनेकी तो टोह लगाओ ।' "जो महाराजकी आज्ञा" यह कह कर वीरवर चल दिया । और राजाने विचारा-'यह बात उचित नहीं है कि इस राजकुमारको मैंने घुप्प अँधेरेमें जाने की आज्ञा दी । इसलिये उसके पीछे जा कर यह क्या है इसका निश्चय करूँ ।' फिर राजा भी खड्ग ले कर उसके पीछे नगरसे बाहर गया । और वीरवरने जा कर उस रोती हुई, रूप तथा यौवनसे सुन्दर और सब आभूषण पहिरे हुए किसी स्त्रीको देखा और पूछा-'तू कौन है ? किसलिये रोती है ?' स्त्रीने कहा—'मैं इस शूद्रककी राजलक्ष्मी हूँ । बहुत कालसे इसकी भुजाओंकी छायामें बड़े सुखसे विश्राम करती थी । अब दूसरे स्थानमें जाऊँगी ।' वीरवर बोला-'जिसमें अपाय(नाश)का संभव है उसमें उपाय भी है । इसलिये कैसे फिर यहाँ आपका रहना होय ?' लक्ष्मी बोली-'जो तू बत्तीस लक्षणोंसे संपन्न अपने पुत्र शक्तिधरको सर्वमंगला देवीकी भेंट करे तो मैं फिर यहां बहुत काल तक रहूँ ।' यह कह कर वह अंतर्धान हो गई ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता पुत्रश्च। तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवंभूतः स्वामिराज्यरक्षार्थं यन्ममोपयोगः श्लाघ्यः। ततोऽधुना विलम्बस्य हेतुः? एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः।

फिर वीरवरने अपने घर जा कर सोती हुई अपनी स्त्रीको और बेटेको जगाया। वे दोनों नींदको छोड़ उठ कर बैठे हो गये। वीरवरने वह सब लक्ष्मीका वचन कह सुनाया। उसे सुन कर शक्तिधर आनन्दसे बोला—'मैं धन्य हूं जो ऐसे स्वामीके राज्यकी रक्षाके लिये मेरा उपयोग प्रशसनीय है। इसलिये अब देरका क्या कारण है? ऐसे काममें देहका त्याग प्रशसनीय है।

यतः,—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति' ॥ १०० ॥

प्रहारेण हनिष्यसि। ततः सुवर्णकलशो भविष्यति, तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम्।' ततस्तथानुष्ठिते तद्वृत्तम्। तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेनालोक्य चिन्तितम्—'अये! निधिप्राप्तेरयमुपायः। अहमप्येवं किं न करोमि?' ततःप्रभृति नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते। एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः। तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेन' इत्यादि।

अयोध्यामें चूड़ामणि नाम एक क्षत्रिय रहता था। उस धनके अभिलाषीने बड़े क्लेशसे भगवान् महादेवजीकी बहुत काल तक आराधना की। फिर जब यह क्षीणपाप हो गया तब महादेवजीकी आज्ञासे कुबेरने सुपनेमें दर्शन दे कर आज्ञा दी कि—जो तू आज प्रात काल और क्षौर कराके लाठी हाथमे ले कर घरमे एकातमें दुर कर बैठेगा तो इसी आँगनमें एक भिखारीको आया हुआ देखेगा। जब तू उसे निर्दय हो कर लाठीकी प्रहारोंसे मारेगा तब वह सुवर्णका कलश हो जायगा। उससे तू जब तक जियेगा सुखसे रहेगा।' फिर वैसा करने पर वही बात हुई। वहाँ क्षौर करनेके लिये बुलाया हुआ नाई सोचने लगा—'अरे! धन पानेका यही उपाय है, मैं भी ऐसा क्यों न करूँ?' फिर उस दिनसे नाई वैसे ही लाठी हाथमें लिये एकातमें भिखारीके आनेकी राह देखा करे। एक दिन उसने भिखारीको पा लिया और लाठीसे मार डाला। अपराधसे उस नाईको भी राजाके पुरुषोंने मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ, "किसीको पुण्यसे मिल गई" इत्यादि।'

राजाह—

'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः॥ १०६॥

राजा बोला—'पहले हो गई कथाओंके कहनेसे नवीन आया हुआ कैसे निश्चय किया जाय कि यह अकृत्रिम बांधव है अथवा विश्वासघाती है॥१०६॥

यातु। प्रस्तुतमनुसंधीयताम्। मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्णस्तदधुना किं विधेयम्?' मन्त्री वदति—'देव! आगतप्रणिधिमुखान्मया श्रुतं तन्महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे, यच्चित्रवर्णेनानादरः कृतः। ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः।

रहे जाने दो। अब जो उपस्थित है उसका विचार करो। मलय पर्वतके ऊपर जो चित्रवर्ण ठहरा है इसलिये अब क्या करना चाहिये?' मन्त्री बोला—'हे महाराज! लौट कर आये हुए दूतके मुँहसे मैंने यह सुना है कि उस महामन्त्री गृध्रके उपदेश पर चित्रवर्णने अनादर किया है। फिर उस मूर्खको जीत सकते है।

हा प्यारे ! किसलिये हमारा अनादर करता है ? क्या कभी मैंने तेरा अनादर किया है ?

यथा चोक्तम्,—

न राज्यं प्राप्तमित्येवं वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ ११२ ॥

जैसा कहा है—राज्य मिल गया यह जान कर अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये । क्योंकि कठोरता निश्चय करके लक्ष्मीको ऐसे नाशमें मिला देती है जैसे सुन्दर रूप-रंगको बुढापा ॥ ११२ ॥

अपि च,—

दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी ।
अभ्यासी विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः ॥ ११३ ॥

और भी–चतुर पुरुष लक्ष्मीको, सुन्दर और हलका भोजन करने वाला नीरोगताको, रोगहीन सुखको, अभ्यासी विद्याके अंतको, और सुशील अर्थात् नम्रतादिगुणोंसे युक्त मनुष्य धर्म, धन और यशको पाता है ॥ ११३ ॥

गृध्रोऽवदत्—'देव ! शृणु,—

गिद्ध बोला–'महाराज ! सुनिये,—

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥ ११४ ॥

मूर्ख राजा भी पण्डितोंकी सेवासे जलके समीपके वृक्ष(जल और शोभाको पाते हैं उन्हीं)के समान उत्तमोत्तम संपत्तिको पाता है ॥ ११४ ॥

अन्यच्च,—

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥ ११५ ॥

और दूसरे–मद्य आदिका पीना, परस्त्रीका संग, आखेट, जुआ, अन्यायसे पराया धन लेना, और वचन तथा दंडमें रुखाई और कठोरता ये राजाओंके अवगुण कहे हैं, अर्थात् उनका त्याग करना अवश्य है ॥ ११५ ॥

किं च,—

न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति संपदः ॥ ११६ ॥

और (बुराई भलाईको विना विचारे) केवल साहस करने वाला, और उपायसे उपहत चित्तवाला, अधिक ऐश्वर्यको नहीं पा सकता है, क्योंकि जहां पर नीति और शूरता रहती है वहांही संपत्तियाँ रहती हैं ॥ ११६ ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकरसिना मयोपन्यस्तेष्वपि

ारे! यह मेरा अपराध हुआ। अब जैसे बची हुई सेनाके साथ लौट कर
ध्याचल पहुँच जाऊँ वैसा उपाय बता।' गिद्ध अपने जीमें सोचने लगा,–
सका कुछ ना कुछ उपाय करना चाहिये।

तः,—

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च' ॥ १२० ॥

क्योंकि—देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, बूढ़ा, और रोगी
न पर क्रोध रोकना चाहिये' ॥ १२० ॥

न्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव! मा भैषीः। समाश्वसिहि शृणु देव!

मन्त्री (यह अपने जीमें विचार कर) हँस कर बोला–'महाराज! मत डरिये
ौर धीरज धरिये, हे महाराज! सुनिये,—

मन्त्रिणां भिन्नसंधाने भिषजां सांनिपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः? ॥१२१॥

लड़ाईके समय शत्रुसे मेल करानेमें मन्त्रियोंकी, सन्निपात(ज्वर) रोगमें वैद्योंकी
ौर कार्योंके साधनमें दूसरोंकी बुद्धि जानी जाती है, और यों बैठे ठाले
ौन पण्डित नहीं है? ॥ १२१ ॥

अपर च,—

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ १२२ ॥

और दूसरे–बुद्धिहीन, छोटे ही कामका आरंभ करते हैं और अत्यन्त
ाकुल हो जाते हैं। बुद्धिमान् बड़े बड़े काम करते हैं और कभी विकल नहीं
ते हैं ॥ १२२ ॥

दत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचि-
ण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि।' राजाह—'कथमधुना स्वल्प-
लेन तत्संपद्यते?' गृध्रो वदति—'देव! सर्वं भविष्यति। यतो
ेजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्। तत्स-
ैव दुर्गावरोधः क्रियताम्।'

इसलिये यहाँ आपके पुण्यप्रतापसेही गढ़को तोड़ फोड़ यश और पराक्रम-
हित आपको शीघ्र विंध्याचलको ले चलूँगा।' राजा बोला–'अब थोड़ीसी सेनासे
ह कैसे होगा?' गिद्धने कहा–'महाराज! सब कुछ हो जायगा। क्योंकि जय
ाहने वालेको दीर्घसूत्रता (कालक्षेप) न होना जयकी सिद्धिका अवश्य होनहार
क्षण है। इसलिये एकाएक ही गढ़ चारों ओरसे घेर लीजिये।'

प्रहितप्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य तत्कथितम्—'देव!
स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य मन्त्रोपस्तम्भेन दुर्गावरोधं
रिष्यति।' राजाह—'सर्वज्ञ, किमधुना विधेयम्?' चक्रो ब्रूते—

१ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंके सन्निपातसे होने वाला ज्वर या
अन्य रोग भयंकर प्राणघातक माने गये हैं।

आपत्ति कहाँ ?' राजा बोला–'जो लक्ष्मी चली जाय तो ?' मंत्री बोला–'सञ्चित धन भी नष्ट हो जाय तो ? इसलिये महाराज! कृपणताको छोड़ दान और मानसे अपने शूर वीरोंका आदर कीजिये।

तथा चोक्तम्,—

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान्सुनिश्चिताः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम्॥ १२६॥

जैसा कहा है–आपसमें एक दूसरेकी सहायता करने वाले, प्रसन्नचित्त, प्राणोंको (स्वामीके लिये, सग्राममें) झोंकने वाले, (शत्रुके मारनेका निश्चय सकल्प करने वाले, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए) और अच्छे प्रकारसे सन्मान किये गये ऐसे शूरवीर शत्रुकी सेनाको विजय करते हैं॥ १२६॥

अपर च,—

सुभटाः शीलसंपन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः।
अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम्॥ १२७॥

और दूसरे–अच्छे स्वभाव वाले, आपसमें मिले हुए, और विना-मरे मारे नहीं लड़ेंगे ऐसा निश्चय करने वाले, पाँच सौ भी वड़े वडे शूर वीर योधा वैरीकी सेनाका नाश कर देते हैं॥ १२७॥

किं च,—

शिष्टैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः।
त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः॥ १२८॥

और महामूर्ख, दुष्ट प्रकृति वाला, कृतघ्न और स्वार्थी मनुष्यको सज्जन भी छोड़ देते हैं, फिर दूसरोंका क्या कहना है? अर्थात् ऐसेको सब त्याग देते हैं॥ १२८॥

यतः,—

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः।
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्॥ १२९॥

क्योंकि—सत्य, शूरता, दया और दान याने उदारता ये राजाके बडे गुण हैं, और इन गुणोंसे रहित राजाकी निश्चय करके वाच्यता(निन्दा)को पाता है॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदेव पुरस्कर्तव्याः।

ऐसे समय पर पहले मन्त्रियोंका सत्कार होना चाहिये,

तथा चोक्तम्,—

यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च॥ १३०॥

जैसा कहा है,—जो जिससे बँधा हुआ है और उसीके साथ जिसका उदय और व्यय (क्षति) है ऐसे भरोसेके मनुष्यको प्राणोंकी रक्षाके कार्यमें लगाना चाहिये॥ १३०॥

यतः,—

पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥ १३६ ॥

क्योंकि—राजा आप देखता हुआ सेनाको आगे करके लड़ावे, क्योंकि स्वामीसे लहकाया हुआ कुत्ता भी क्या सचमुच सिंहकी भाँति बल नहीं दिखाता है? अर्थात् अवश्य ही दिखाता है ॥ १३६ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय ।' गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्,

पीछे उन सभोंने गढके द्वार पर जा कर बड़ा घोर युद्ध किया । दूसरे दिन चित्रवर्ण राज गिद्धसे बोला–'प्यारे ! अब अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर ।' गिद्ध बोला–'महाराज ! पहले सुन लीजिये,—

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ।
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३७ ॥

बहुत काल तक घेरा न सहने वाला अर्थात् कच्चा, अत्यंत स्वल्प सेन्ययुक्त मूर्ख और मद्यपानादि दोषयुक्त जिसका नायक हो, जिसकी अच्छे प्रकारसे रक्षा नहीं की गई हो और जिसमें कायर और डरपोक योद्धा हों वह गढकी विपत्ति कही गई है' ॥ १३७ ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

सो बात तो यहाँ नहीं है ।

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १३८ ॥

गढकी भीतरी सेनामें किसी भेदियेको भेज कर फूट करा देना, बहुत काल तक चारों ओरसे घेरे पड़े रहना, बार बार शत्रु पर चढाई करना और अत्यन्त साहस दिखलाना ये चार गढके जीतनेके उपाय हैं ॥ १३८ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः (कर्णे कथयति ।) एवमेवम् ।' ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु वृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः । ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताग्निमवलोक्य राजहंससैनिका दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः ।

इसमें शक्तिके अनुसार उपाय किया जाता है । (कानमें कहने लगा) इस प्रकार इस प्रकार ।' फिर एक दिन सूर्यके बिना ही निकले गढ़के चारों द्वारों पर घनघोर युद्ध होने पर गढके भीतरके डेरोंमें कौवोंने आग लगा दी । फिर तो "गढको ले लिया ले लिया ' यह हुर्रा सुन कर चारों ओर आगको धधकती हुई देख कर राजहंसकी सेनाके शूर वीर और गढके रहने वाले शीघ्र सरोवरमें घुस गये,

चले जाना ठीक है, पर प्राणीका मरण अवश्य ही है इसलिये जा कर क्यों वृथा अपना यश मलीन करना चाहिये? ॥ १४१ ॥

अन्यच्च,—

भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४२ ॥

और दूसरे—वायुसे उठी हुई तरंगोंके खेलके समान क्षणभंगुर इस असार संसारमें पराये उपकारके लिये प्राणोंका त्याग बड़े पुण्यसे होता है ॥ १४२ ॥

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥ १४३ ॥

और स्वामी, मंत्री, राज्य, गढ, कोश, सेना, मित्र और पुरवासियोंके समूह ये राज्यके अंग हैं ॥ १४३ ॥

देव! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः।

और हे महाराज! आप स्वामी हैं, आपकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये,

यतः,—

प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि? ॥ १४४ ॥

क्योंकि—स्वामीको त्याग कर प्रजा, सब ऐश्वर्यसे युक्त भी नहीं जीती है, जैसे आयु बीतने पर धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकता है? ॥ १४४ ॥

अपरं च,—

नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्' ॥ १४५ ॥

और दूसरे—सूर्यके उदय तथा अस्त होनेसे कमलके समान, राजाके मरने पर यह जीवलोक मरता है और उदय होने (जीने) पर जीता है' ॥ १४५ ॥

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः। तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा जले क्षिप्तः। अथ कुक्कुटैर्नखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हताः। पश्चात्सारसोऽपि चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः। अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा वन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः स्वस्कन्धावारं जगाम ॥

फिर मुर्गेने आ कर राजहंसके शरीर पर बड़े तीखे तीखे नोहटे मारे। तब सारसने तुरन्त पास जा कर और अपनी देहसे छिपा कर राजाको जलमें फेंक दिया। फिर मुर्गोंके नोहटोंसे व्याकुल हुए सारसने मुर्गोंकी सेनाको बहुत मारा। पीछे सारस भी चोंचोंके प्रहारसे छिद कर मारा गया। फिर चित्रवर्ण गढमें घुस कर गढमें धरे हुए द्रव्यको लिवा कर बंदिजनोंके जय जय शब्दसे प्रसन्न होता हुआ अपने डेरेसे चला गया।

हितोपदेशः ।

॥ संधिः ४ ॥

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः । संधिरधुनाऽभिधीयताम् ।'

फिर कथाके आरम्भमें राजपुत्रोंने कहा–'हे गुरुजी ! हम विग्रह सुन चुके । अब सन्धि सुनाइये ।'

विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, संधिमपि कथयामि यस्यायमाद्यः श्लोकः—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयाभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात्' ॥१॥

विष्णुशर्माने कहा–'सुनिये, सधि भी कहता हूँ कि जिसके आदिका यह वाक्य है—दोनों राजाओंकी सेनाके मरने पर और घनघोर युद्ध होने पर गीध और चकवेने पच बन कर शीघ्र मेल करा दिया' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले–'यह कथा कैसे है ?' विष्णुशर्मा कहने लगे ।—

॥ कथा १ ॥

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—'केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? किं पारक्येण किं वास्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?' चक्रो ब्रूते—देव ! भगवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते । तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।' राजा क्षणं विचिन्त्याह—अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत् ।

फिर उस राजहसने कहा–'हमारे किलेमें किसने आँच लगाई है ? शत्रुने अथवा शत्रुसे सिखाये हुए किसी हमारे गढके रहने वालेने ? ।' चकवा बोला—महाराज ! आपका अकृत्रिम बन्धु वह मेघवर्ण अपने परिवारसहित नहीं दीखता है इसलिये यह उसीका काम देख पड़ता है ।' राजाने क्षण भर सोच कर कहा–'यह मेरी प्रारब्ध ही फूटी है,

तथा चोक्तम्,—

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥

जैसा कहा है—वह प्रारब्धका दोष है कुछ यह मंत्रियोंका नहीं है, क्योंकि कहीं अच्छे प्रकारसे किया हुआ काम भी भाग्यके वशसे बिगड़ जाता है' ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते—'उक्तमेवैतत्,—

मंत्री बोला—ऐसा भी कहा है,—

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजबले स पुण्यवान्सारस एव येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः।'

फिर राजकुमारोंने कहा–'उस राजाकी सेनामें एक सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपनी देहको त्याग करके स्वामीकी रक्षा की।

उक्तं चैतत्,—

> **जनयन्ति सुतान्गावः सर्वा एव गवाकृतीन्।**
> **विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्' ॥ १४६ ॥**

और ऐसा कहा है कि–सभी गायें गौके आकारके समान बछड़ोंसे जनती हैं परन्तु दोनों सींगोंसे स्पष्ट दीखते हुए कंधे वाले साँड़को विरलीही जनती है' १४६

विष्णुशर्मोवाच—'स तावद्विद्याधरीपरिजनः स्वर्गसुखमनुभवतु महासत्त्वः।

विष्णुशर्मा बोले–'वह महात्मा सारस विद्याधरियोंके परिवारके साथ स्वर्गका सुख भोगें।

तथा चोक्तम्,—

> **आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।**
> **भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १४७ ॥**

जैसा कहा है–जिन शूर वीरोंने संग्राममें अपने स्वामीके लिये प्राणत्याग किया है वे स्वामीके भक्त तथा राजाके उपकारको मानने वाले मनुष्य स्वर्गको पाते हैं ॥

> **यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः।**
> **अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥ १४८ ॥**

और जिस किसी स्थानमें शत्रुओंसे घिर कर मरा हुआ शूर जो युद्धभूमि छोड़ न भागे तो अमर लोकोंको पाता है ॥ १४८ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः' राजपुत्रैरुक्तम्,—'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम्।'

'आपने विग्रह सुन लिया।' राजपुत्रोंने कहा–'हम सुन कर बहुत सुखी हुए।'

विष्णुशर्माऽब्रवीत्—'अपरमप्येवमस्तु—

> **विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि-**
> **र्नो कदापि भवतां महीभुजाम्।**
> **नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः**
> **संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः' ॥ १४९ ॥**

इति हितोपदेशे विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः समाप्तः।

विष्णुशर्मा बोले–'यह और भी होय–आपके समान महाराजाओंका कभी हाथी घोडे और पैदल आदि सेनासे संग्राम न होय और नीतिके मन्त्ररूपी पवनसे उड़ाये गये शत्रु पर्वतकी गुफामें आसरा लें' ॥ १४९ ॥

पं॰ रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेश ग्रन्थके विग्रह नामक तीसरे भागका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ। शुभम्.

हितोपदेशः।

॥ संधिः ४ ॥

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः। संधिरधुनाऽभिधीयताम् ।'

फिर कथाके आरम्भमें राजपुत्रोंने कहा—'हे गुरुजी ! हम विग्रह सुन चुके। अब सन्धि सुनाइये।'

विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, संधिमपि कथयामि यस्यायमाद्यः श्लोकः—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः।
स्थेयाभ्या गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात्' ॥१॥

विष्णुशर्माने कहा—'सुनिये, सधि भी कहता हूँ कि जिसके आदिका यह वाक्य है—दोनों राजाओंकी सेनाके मरने पर और घनघोर युद्ध होने पर गिद्ध और चकवेने पच बन कर शीघ्र मेल करा दिया' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—'यह कथा कैसे है ?' विष्णुशर्मा कहने लगे।—

॥ कथा १ ॥

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—'केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? किं पारक्येण किं वास्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?' चक्रो ब्रूते—'देव! भगवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते। तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम्।' राजा क्षणं विचिन्त्याह—'अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत्।

फिर उस राजहसने कहा—'हमारे किलेमें किसने आँच लगाई है ? शत्रुने अथवा शत्रुसे सिखाये हुए किसी हमारे गढके रहने वालेने ?।' चकवा बोला—महाराज ! आपका अकृत्रिम बन्धु वह मेघवर्ण अपने परिवारसहित नहीं दीखता है इसलिये यह उसीका काम देख पड़ता है।' राजाने क्षण भर सोच कर कहा—'यह मेरी प्रारब्ध ही फूटी है,

तथा चोक्तम्,—

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम्।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥

जैसा कहा है—वह प्रारब्धका दोष है कुछ यह मन्त्रियोंका नहीं है, क्योंकि कहीं अच्छे प्रकारसे किया हुआ काम भी भाग्यके वशसे बिगड़ जाता है' ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते—'उक्तमेवैतत्,—

मन्त्री बोला—ऐसा भी कहा है,—

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

मूर्ख मनुष्य बुरी दशाको पा कर भाग्यकी निन्दा करता है और अपने कर्मके दोषोंको नहीं जानता है ॥ ३ ॥

अपरं च,—

सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ४ ॥

और दूसरे-जो मनुष्य हितकारी मित्रोंका कहा नहीं मानता है वह मूर्ख काठसे गिरे हुए कछुएके समान मरता है' ॥ ४ ॥

राजाह—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

राजा बोला-'यह कथा कैसे है?' मन्त्री कहने लगा।—

॥ कथा २ ॥

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः। तत्र चिरं संकटविकटनामानौ हंसौ निवसतः। तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति। अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तम्—'तदत्रास्माभिरुषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः।' तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह—'सुहृदौ! श्रुतोऽयं धीवरालापः। अधुना किं मया कर्तव्यम्?' हंसावाहतुः—'ज्ञायताम्। पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्।' कूर्मो ब्रूते—'मैवम्। यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र।

मगध देशमें फुल्लोत्पल नाम एक सरोवर है। वहाँ बहुत कालसे संकट और विकट नामक दो हंस रहा करते थे और उन दोनोंका मित्र एक कम्बुग्रीव नाम कछुआ रहता था। फिर एक दिन धीवरोंने वहाँ आ कर कहा कि—आज हम यहाँ रह कर प्रातःकाल मछली कछुआ आदि मारेंगे' यह सुन कर कछुआ हंसोंसे कहने लगा—'हे मित्रो! धीवरोंकी यह बात मैंने सुनी। अब मुझे क्या करना उचित है?' हंसोंने कहा-'समझलो। फिर प्रातःकाल जो उचित हो सो करना।' कछुआ बोला-'ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं यहाँ पर खत्रा देख चुका हूं।

तथा चोक्तम्,—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ५ ॥

जैसा कहा है—अनागतविधाता याने आगे होने वाली बातको प्रथमही सोचने वाला और प्रत्युत्पन्नमति अर्थात् अवसर जान कर कार्य करने वाला इन दोनोंने आनंद भोगा और यद्भविष्य मारा गया' ॥ ५ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत्?' कूर्मः कथयति—

वे दोनों बोले—'यह कथा कैसे है?' कछुआ कहने लगा।—

॥ कथा ३ ॥

पुरास्मिन्नेव सरस्येवंविधेषु धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणालोचितम्। तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः। तेनालोचितम्—

हं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि' इत्युक्त्वा ह्रदान्तरं गतः। परेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितम्—'भविष्यदर्थे प्रमाभावात्कुत्र मया गन्तव्यम्? तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्।

पहिले इसी सरोवर पर जब ऐसे ही धीवर आये थे तब तीन मछलियोंने विचार या। और उनमें अनागतविधाता नाम एक मच्छ था, उसने विचार किया—'मैं दूसरे सरोवरको जाता हूँ।' यह कह कर यह दूसरे सरोवरको चला गया। फिर रे प्रत्युत्पन्नमति नाम मच्छने कहा—'होने वाले काममें निश्चय न होनेसे मैं हाँ जाऊँ? इसलिये काम आ पड़ने पर जैसा होगा वैसा करूंगा।

था चोक्तम्,—

> उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
> वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा' ॥ ६ ॥

जैसा कहा है—जो उत्पन्न हुई आपत्तिका उपाय करता है वह बुद्धिमान् है, रे कि वनियेकी स्त्रीने प्रत्यक्षमें जारको छुपा लिया' ॥ ६ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत्?' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

यद्भविष्य पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा।—

॥ कथा ४ ॥

पुरा विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा म गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते। अथैकदा सा रत्नप्रभा स्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता। ततः ा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाह—'नाथ! एतस्य सेवकस्य हती निर्वृतिः। यतोऽयं चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति यास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्। तथा चोक्तम्—"आहारो द्विगुणः ीणाम्" इत्यादि।' तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्—'नाथ! यस्य ामिनो गृह एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यं यत्र तिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति।' ततोऽसावुत्थाय चलितः ाधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"उत्पन्नामापदम्" त्यादि॥'

किसी समय विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नाम एक वनिया रहता था। उसकी त्नप्रभा नाम स्त्री अपने सेवकके संग सदा व्यभिचार किया करती थी। पीछे एक न उस रत्नप्रभाको उस सेवकका मुखचुम्बन करते हुए समुद्रदत्तने देख लेया। फिर वह व्यभिचारिणी शीघ्र अपने पतिके पास जा कर बोली—'हे वामी! इस सेवकको बड़ा सुख है, क्योंकि यह चोरी करके कपूर खाया रता है, यह मैंने इसका मुख सूँघ कर जान लिया। जैसा कहा है—'स्त्रियोंका

भोजन दूना होता है' इत्यादि। यह सुन कर सेवकने क्रोध कर कहा-'हे स्वामी! जिस स्वामीकी ऐसी स्त्री है वहाँ सेवक कैसे टिक सकता है कि जहाँ क्षणक्षणमें घरवाली सेवकका मुख सूँघती है?' फिर वह उठ कर जाने लगा तब गनेरने जों तों करके समझा कर रख लिया। इसलिये मैं कहता हूँ-"आपत्तिके उत्पन्न होने पर" आदि।'

ततो यद्भविष्येणोक्तम्,—

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते' ॥ ७॥

फिर यद्भविष्यने कहा-'जो होनहार नहीं है वह कभी नहीं होगा, और जो होनहार है उससे उलटा न होगा अर्थात् अवश्य होगा यह चिंतारूपी विषको नाश करने वाली औषध क्यों नहीं पीते हो?' ॥ ७॥

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्श्य स्थितः। ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः। यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-"अनागतविधाता" इत्यादि॥ तद्यथाहमन्यह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम्।' हंसावाहतुः—'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः?' कूर्म आह—'यथाहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि तथा विधीयताम्।' हंसौ ब्रूतः—'कथमुपायः संभवति?' कच्छपो वदति—'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्ब्य गन्तव्यम्। युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम्।'

फिर प्रातःकाल जालसे बँध कर प्रत्युत्पन्नमति अपनेको मरेके समान दिखला कर बैठा रहा। फिर जालसे बाहर निकाला हुआ अपनी शक्तिके अनुसार उछल कर गहरे पानीमें घुस गया और यद्भविष्यको धीवरोंने पकड़ लिया और मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ, "अनागतविधाता" इत्यादि—॥ सो जिस प्रकार मैं दूसरे सरोवरको पहुँच जाऊ वैसे करो।' दोनों हंस बोले-'दूसरे सरोवरके जानेमें तुम्हारी कुशल है। परंतु पटपड़में तुम्हारे जानेका कौनसा उपाय है?' कछुआ बोला—'जिस प्रकार मैं तुम्हारे साथ आकाशमार्गसे जाऊं वैसे करो।' हंसोंने कहा-'उपाय कैसे हो सकता है?' कछुएने कहा—'तुम दोनों एक काठके टुकड़ेको चोंचसे पकड़ लेना और मैं मुखसे पकड़ कर चलूंगा और तुम्हारे पंखोंके चलने मैं सुखसे पहुँच भी जाऊंगा।'

हंसौ ब्रूतः—'संभवत्येष उपायः। किंतु,—

हंस बोले-'यह उपाय तो हो सकता है। परंतु,—

उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः।' ॥ ८॥

---

१ हितोपदेश १२० वां अंक देखो।

पण्डितको उपाय सोचना चाहिये और विपत्तिका भी विचार करना चाहिये। जैसे मूर्ख बगलेके देखते २ नौले सब बच्चे खा गये' ॥ ८ ॥

कूर्मः पृच्छति—'कथमेतत्?' तौ कथयतः—

कछुआ पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' वे दोनों कहने लगे।—

॥ कथा ५ ॥

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः। तत्रानेकबका निवसन्ति। तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पो बालापत्यानि खादति। अथ शोकार्तानां बकानां विलापं श्रुत्वा केनचिद्वृद्धबकेनाभिहितम्—'एवं कुरुत। यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण विकिरत। ततस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च।' तथानुष्ठिते तद्वृत्तम्। ततस्तत्र वृक्षे न कुलैर्बकशावकरावः श्रुतः। पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य बकशावकाः खादिताः। अत आवां ब्रूवः—"उपायं चिन्तयन्" इत्यादि॥ आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किंचिद्वक्तव्यमेव। तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम्। तत्सर्वथात्रैव स्थीयताम्।' कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः? नाहमुत्तरं दास्यामि किमपि न वक्तव्यम्। तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च। कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति तदात्रैव पक्त्वा खादितव्यः।' कश्चिद्वदति—'अत्रैव दग्ध्वा खादितव्योऽयम्।' कश्चिद्वदति—'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्।' इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"सुहृदां हितकामानाम्" इत्यादि॥' अथ प्रणिधिर्बकस्तत्रागत्योवाच—'देव! प्रागेव मया निगदितम्। दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति। तच्च युष्माभिर्न कृतं तदनवधानस्य फलमनुभूतम्। दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः।'

उत्तर दिशामें गृध्रकूटक नाम पर्वत पर एक बड़ा पीपलका पेड़ है। उस पर बहुतसे बगले रहते थे। उस वृक्षके नीचे बिलेमें एक साँप बगलोंके छोटे छोटे बच्चोंको खा लिया करता था। फिर शोकसे व्याकुल बगलोंके विलापको सुन कर किसी बगलेने कहा—'ऐसा करो। तुम मछलियोंको ले कर नौलेके बिलेसे साँपके बिले तक लगातार फैला दो। फिर उनको खानेके लोभी नौले वहाँ आ कर साँपको देखेंगे और अपने स्वभावके बैरसे उसे मार डालेंगे। ऐसा करने पर वैसा ही हुआ। पीछे उस वृक्षके ऊपर नौलोंने बगलोंके बच्चोंका चहचहाट सुना। फिर

उन्होंने पेड़ पर चढ़ कर बगलोंके बच्चे खा लिये। इसलिये हम दोनों कहते हैं कि "उपायको सोचना चाहिये" इत्यादि। और हम दोनोंसे ले जाते हुए तुमको देख कर लोग कुछ कहेंगेही। वह सुन कर जो तुम उत्तर दोगे तो तुम मरोगे। इसलिये चाहे जो कुछ हो यहाँ ही रहो।' कछुआ बोला—'क्या मैं मूर्ख हूँ? मैं उत्तर नहीं दूंगा। कुछ न बोलूँगा। और वैसा करने पर कछुएको वैसा देख कर सब ग्वाले पीछे दौड़े और कहने लगे कोई कहता था—जो यह कछुआ गिर पड़े तो यहीं इसे पका कर खा लेना चाहिये। कोई कहता था—यहाँ ही इसे भून कर खा लें। और कोई कहता था कि घर ले चल कर खाना चाहिये। उन सभीका वचन सुन कर वह कछुआ क्रोधयुक्त हो कर पहले उपदेशको भूल कर बोला—'तुम सभोंको धूल फाँकनी चाहिये।' यह कहतेही गिर पड़ा और उन्होंने मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ—"हितकारी मित्रोंका" इत्यादि।' फिर दूत बगला वहाँ आ कर बोला—'हे महाराज! मैंने तो पहले ही जता दिया था कि गढका संशोधन क्षण क्षणमें अवश्य करना चाहिये। और वह आपने नहीं किया इसलिये उस भूलका फल भुगता। गिद्धके सिखाये भलाये मेघवर्ण कौएने दुर्ग जला दिया।

राजा निःश्वस्याह,—

> 'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु।
> स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ ९ ॥

राजाने सांस भर कर कहा—जो मनुष्य स्नेहसे अथवा उपकारसे शत्रुओं पर विश्वास करता है वह सोये हुएके समान वृक्षकी फुनगीसे गिर कर जाग पड़ता है, अर्थात् आपत्तिमें पड़ कर उसे जानता है' ॥ ९ ॥

प्रणिधिरुवाच—'इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्—'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम्।

दूत बोला—'यहाँसे गढ़का दाह करके जब मेघवर्ण गया तब चित्रवर्णने प्रसन्न हो कर कहा—"इस मेघवर्णको इस कर्पूरद्वीपके राज्य पर राजतिलक कर दो।

तथा चोक्तम्,—

> 'कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत्।
> फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत्' ॥ १० ॥

जैसा कहा है—जिस सेवकने कार्य सिद्ध किया है उसके कियेका फल नष्ट नहीं करना चाहिये उसका पारितोषिकसे, मनसे, वचनसे और दृष्टिसे उसको प्रसन्न करना चाहिये' ॥ १० ॥

चक्रवाको ब्रूते—'ततस्ततः।' प्रणिधिरुवाच—'ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभिहितम्—'देव! नेदमुचितम्। प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम्।

चकवा पूछने लगा—'उसके पीछे फिर क्या हुआ?' दूत बोला—'उसके

मन्त्री गिद्धने कहा—'महाराज! यह बात उचित नहीं है, कुछ दूसरा प्रसाद कीजिये,

यतः,—

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेपूपकृतं राजन्! वालुकास्विव मुद्रितम् ॥ ११ ॥

क्योंकि—हे राजन्! पूर्वापरको नहीं विचारने वालेको उपाय बतलाना भुसीके पीसनेके समान बेकार्य है और नीचोंमें उपकार करना धुलिमें चिह्न करनेके समान है, अर्थात् जैसा धुलिका चिह्न थोडीसी देरमें मिट जाता है वैसा नीचोंमें किया हुआ उपकार और अविचारी पुरुषको उपदेश भी लुप्त हो जाता है ॥११॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्तव्यः ।

बड़ोंके स्थान पर नीचको कभी न करना चाहिये । जैसा कहा है—

तथा चोक्तम्,—

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १२ ॥

नीच अच्छे पदको पा कर स्वामीको मारना चाहता है, जैसे चूहा व्याघ्रत्वको पा कर मुनिको मारने चला' ॥ १२ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

चित्रवर्ण पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' मन्त्री कहने लगा।—

॥ कथा ९ ॥

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र तेन मुनिना काकेन नीयमानो मूषिकशावको दृष्टः । ततः स्वभावदयात्मना तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्धितः । ततो विडालस्तं मूषिकं खादितुमुपधावति । तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्—'मूषिक! त्वं मार्जारो भव ।' ततः स विडालः कुक्कुरं दृष्ट्वा पलायते । ततो मुनिनोक्तम्—'कुक्कुराद्बिभेषि । त्वमेव कुक्कुरो भव ।' स च कुक्कुरो व्याघ्राद्बिभेति । ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः । अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनिं दृष्ट्वा व्याघ्रं च सर्वे वदन्ति—'अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः ।' एतच्छ्रुत्वा स व्याघ्रोऽचिन्तयत्—'यावदनेन मुनिना स्थातव्यं तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव' इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः । अतोऽहं ब्रवीमि—"नीचः श्लाघ्यपदं" इत्यादि ॥

गौतम महर्षिके तपोवनमें महातपा नाम एक मुनि था । वहां उस मुनिने

---

१ 'नीचेपूपकृतं राजन्' 'वालुकास्विव मूत्रितम्' यह भी पाठ प्रचलित है, जिसका अर्थ—'नीच पुरुषमें उपकार करना तो सचमुच बालि(रेत)में मूतने समान है' ऐसा है

कौएसे लाये हुए एक चूहेके बच्चेको देखा। फिर स्वभावसे दयामय उस मुनिने तृणके धान्यसे उसको बड़ा किया। फिर विलाव उस चूहेको खानेको दौड़ा, उसे देख कर चूहा उस मुनिकी गोदमें चला गया। फिर मुनिने कहा कि-'हे चूहे! तू विलाव हो जा।' फिर वह विलाव कुत्तेको देख कर भागने लगा। फिर मुनिने कहा—'तू कुत्तेसे डरता है, जा तू भी कुत्ता हो जा।' बाद वह कुत्ता बाघसे डरने लगा। फिर उस मुनिने उस कुत्तेको बाघ कर दिया। वह मुनि, उस बाघको "यह तो चूहा है" ऐसे (उसे असली स्वरूपसे) देखता था। उस मुनिको और व्याघ्रको देख कर सब लोग कहा करते थे कि "इस मुनिने इस चूहेको बाघ बना दिया है।" यह सुन कर वह बाघ सोचने लगा—'जब तक यह मुनि रहेगा तब तक यह मेरी अपयश करने वाली स्वरूपकी कहानी नहीं मिटेगी।' यह विचार कर चूहा उस मुनिको मारनेके लिये चला। फिर मुनिने यह जान कर "फिर चूहा हो जा" यह कह कर चूहाही कर दिया। इसलिये मैं कहता हूँ— "नीच ऊँचा पद पर" इत्यादि,

अपरं च। सुकरमिदमिति न मन्तव्यम्। शृणु,—

और दूसरे—यह बात सुलभ है ऐसा नहीं जानना चाहिये। सुनिये,—

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥ १३ ॥

एक बगला बहुतसे बड़े छोटे, और मध्यम मच्छोंको खा कर अधिक लोभसे कर्कटके पकड़नेसे मारा गया' ॥ १३ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

चित्रवर्ण पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' मन्त्री कहने लगा।—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति मालवदेशे पद्मगर्भनामधेयं सरः। तत्रैको वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः। स च केनचित् कुलीरेण दृष्टः पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति?' बकेनोक्तम्—'मत्स्या मम जीवनहेतवः ते कैवर्तैरागत्य व्यापादयितव्या इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता। अतो वर्तनाभावादेवा[illegible]मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाहारेऽप्यनादरः कृतः।' ततो मत्स्यैरालोचितम्—'इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते। तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छ्यताम्।

समय तो यह उपकार करने वाला ही दीखता है इसलिये इसीसे जो कुछ करना है सो पूछना चाहिये।

तथा चोक्तम्,—

> उपकर्त्रारिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा।
> उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः' ॥ १४ ॥

जैसा कहा है कि—उपकारी शत्रुके साथ मेल करना चाहिये और अपकारी मित्रके साथ न करना चाहिये, क्योंकि निश्चय करके उपकार और अपकार ही मित्र और शत्रुके लक्षण हैं ॥ १४ ॥

मत्स्या ऊचुः–'भो बक! कोऽत्र रक्षणोपायः?' बको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि।' मत्स्या आहुः—'एवमस्तु।' ततोऽसौ बकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा खादति।' अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच—'भो बक! मामपि तत्र नय।' ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं तत्स्थलमालोक्याचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु। इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि' इत्यालोच्य कुलीरस्तस्य ग्रीवां चिच्छेद। स बकः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"भक्षयित्वा 'बहून्मत्स्यान्" इत्यादि ॥' ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन्! मयैतदालोचितमस्ति।' अत्रावस्थितेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि। तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम्।'

मच्छ बोले–'हे बगले! इसमें रक्षाका कौनसा उपाय है? तब बगला बोला–दूसरे सरोवरका आश्रय ही रक्षाका उपाय है। वहाँ मैं एक एक करके तुम सबोंको ले कर चलता हूं।' मच्छ बोले–'अच्छा, ले चलो।' पीछे यह बगला उन मच्छोंको एक एक ले जा कर खाने लगा। इसके पीछे कर्कट उससे बोला–'हे बगले! मुझे भी वहां ले चल।' फिर अपूर्व कर्कटके मासके लोभी बगलेने आदरसे उसे भी वहाँ ले जा कर पटपड़में धरा। कर्कट भी मच्छोंकी हड्डियोंसे बिछे हुए उस पड़ावको देख कर चिन्ता करने लगा–'हाय मैं मन्दभागी मारा गया। जो कुछ हो, अब समयको उचित काम करूंगा।' यह विचार कर कर्कटने उसकी नाड़ काट डाली और वह बगला मर गया। इसलिये मैं कहता हूं "बहुतसे मच्छोंको खा कर" इत्यादि। फिर चित्रवर्ण बोला–'हे मंत्री! सुनो, मैंने तो यही सोच रक्खा है। यहां बैठाला हुआ राजा मेघवर्ण जितनी उत्तम वस्तुएं कर्पूरद्वीपकी हैं उतनी हमारे पास भेटमें लावेगा। उससे हम विन्ध्याचलमें आनन्दसे रहेंगे।'

दूरदर्शी विहस्याह—'देव!

दूरदर्शी हँस कर बोला—'हे महाराज!

> अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति।
> स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा' ॥ १५ ॥

जो नहीं आई हुई चिंताको करके प्रसन्न होता है वह मट्टीके बर्तन फोडने वाले ब्राह्मणके समान अपमानको पाता है' ॥ १५ ॥

राजाह—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है?' मन्त्री कहने लगा।—

अस्ति देवीकोटनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः। तेन महाविषुवत्संक्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः। तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः। ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—'यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि तदाऽत्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादीनुपक्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय विक्रीय लक्षसंख्यानि धनानि कृत्वा विवाहचतुष्टयं करिष्यामि। अनन्तरं तासु सपत्नीषु रूपयौवनवती या तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि। सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति तदा कोपाकुलोऽहं ता लगुडेन ताडयिष्यामि' इत्यभिधाय लगुडः क्षिप्तः। तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो भाण्डानि च बहूनि भग्नानि। ततस्तेन शब्देनागतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य ब्राह्मणस्तिरस्कृतो मण्डपाद्बहिःकृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"अनागतवतीं चिन्ताम्" इत्यादि॥' ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात! यथा कर्तव्यं तथोपदिश।'

गृध्रो ब्रूते,—

'मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ १६ ॥

गिद्ध बोला—'कुमार्गमें जाने वाले अर्थात् अनुचित काम करने वाले अभिमानी राजाके मन्त्री लोग, कुमार्गमें जाने वाले तथा मत वाले हाथीवानोंके समान, निश्चय करके निन्दाको पाते हैं ॥ १६ ॥

शृणु देव! किमस्माभिर्बलदर्पाद्दुर्गं भग्नम्? न। किंतु तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन।' राजाह—'भवतामुपायेन?' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते तदा स्वदेशे गम्यताम्। अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनर्विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति। सुखशोभार्थं संधाय गम्यताम्। दुर्गं भग्नं कीर्तिश्च लब्धैव। मम संमतं तावदेतत्।

सुनिये महाराज! क्या हमने बलके घमंडसे गढ तोड़ा है? यह बात नहीं है। परन्तु आपके प्रतापसे निश्चित किये उपायसे तोड़ा है।' राजा बोला—'तुम्हारे उपायसे टूटा है?' गिद्ध बोला—'जो मेरा कहना करो तो अपने देशमें चले चलो। नहीं तो वर्षा आने पर फिर लड़ाई होनेमे, पराई भूमिमें रहने वाले हम लोगोंका अपने देशको जाना भी कठिन होगा। इसलिये सुख और शोभाके लिये मेल करके चलिये, गढ टूट गया और यश भी मिला। मेरी तो यह समति है।

यतः,—

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह तथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

क्योंकि—जो मनुष्य धर्मको आगे करके स्वामीके प्रिय और अप्रियको छोड़ कर अप्रिय भी सत्य कहता है उससे राजाको सहारा होता है, अर्थात् कटु भले होय, सच्चा और योग्य सलाह देने वालाही मन्त्री राजाका सचमुच सहायकर्ता होता है ॥ १७ ॥

अन्यच्च,—

सुहृद्बलं तथा राज्यमात्मानं कीर्तिमेव च।
युधि संदेहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः ॥ १८ ॥

दूसरे-और कौनसा बुद्धिमान् मित्रकी सेनाको, राज्यको, अपनेको, और कीर्तिको संग्रामके संदेहरूपी हिंडोलेमें झुलावेगा अर्थात् संकटमें गिरा देगा ॥१८॥

अपर च,—

संधिमिच्छेत्समेनापि संदिग्धो विजयो युधि।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम्?' ॥ १९ ॥

और समानके साथ भी मेल करनेकी इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि युद्धमें विजयका संदेह है। जैसे समान बल वाले सुन्द और उपसुन्द आपसमें क्या नष्ट नहीं हो गये?' ॥ १९ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है?' मन्त्री कहने लगा।—

॥ कथा ९ ॥

पुरा दैत्यौ महोदारौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता क्लेशेन त्रैलोक्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ । ततस्तयोर्भगवान्परितुष्टः 'वरं वरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः समाधिष्ठितया सरस्वत्या तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ । यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु । अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता। ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां जगद्घातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां पापतिमिराभ्यां ममेत्यन्योन्यकलहाभ्यां प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छयतामिति मतौ कृतायां स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः । अनन्तरम् 'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति?' इति ब्राह्मणमपृच्छताम् ।

पहले बड़े उदार सुन्द और उपसुन्द नाम दो दैत्योंने बड़े क्लेशसे तीनों लोककी इच्छासे बहुत काल तक महादेवजीकी आराधना की। फिर उन दोनों पर भगवान्ने प्रसन्न हो कर यह कहा कि "वर माँगो"। फिर हृदयमें स्थित सरस्वतीकी प्रेरणासे वे दोनों, कहना तो कुछही चाहते थे और कुछका कुछ कह दिया कि जो हम दोनों पर भगवान् प्रसन्न हैं तो परमेश्वर अपनी प्रिया पार्वतीजीको दे। पीछे भगवान्ने क्रोधमें वरदान देनेकी आवश्यकतासे उन विचारहीन मूर्खोंको पार्वतीजी दे दीं। तब उनके रूप और सुन्दरतासे लुभाये संसारके नाश करने वाले, मनमें उत्कण्ठित, कामसे अंधे तथा 'यह मेरी है मेरी है' ऐसा आपसमें झगड़ा करने वाले इन दोनोंकी "किसी निर्णय करने वाले पुरुषसे पूछना चाहिये" ऐसी बुद्धि करने पर वही ईश्वर बूढ़े ब्राह्मणके वेषसे आ कर वहां उपस्थित हुए। पीछे, हम दोनोंने अपने बलसे इसको पाया है, 'हम दोनोंमेंसे किसकी है?'—यह ब्राह्मणसे पूछा।

ब्राह्मणो ब्रूते,—

> 'वर्णश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि ।
> धनधान्याधिको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २० ॥

ब्राह्मणने कहा—'वर्णोंमें श्रेष्ठ होनेसे ब्राह्मण, बलवान् होनेसे क्षत्रिय, धनधान्यसे वैश्य और इन तीनों वर्णोंकी सेवासे शूद्र पूज्य होता है ॥ २० ॥

तद्युवां क्षत्रधर्मानुगौ । युद्ध एव युवयोर्नियमः ।' इत्यभिहिते सति 'साधूक्तमनेन' इति कृत्वान्योन्यतुल्यवीर्यौ समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं ब्रवीमि—"सन्धिमिच्छेत्समेनापि" इत्यादि ।' राजाह—'प्रागेव किं नोक्तं भवद्भिः?' मन्त्री ब्रूते—'मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः? तथापि मम सम्मत्या नायं विग्रहारम्भः साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो न विग्राह्यः ।

गिद्ध बोला—'इसलिये तुम दोनों क्षत्रिधर्म पर चलने वाले हो। तुम दोनोंका युद्ध ही नियम है। ऐसा कहते ही "यह इसने अच्छा कहा" यह कह कर समान बल वाले वे दोनों एक ही समय आपसमें लड़ कर मर गये। इसलिये मैं कहता हूँ—"समान बल वाले के साथ भी संधि करनी चाहिये" इत्यादि।' राजा बोला-'तुमने पहलेही क्यों नहीं कहा?' मन्त्रीने कहा-'क्या मेरी बात आपने अंत तक सुनी थी? तोभी मेरी सम्मतिसे यह युद्ध आरंभ नहीं हुआ है। सुन्दर गुणोंसे युक्त यह हिरण्यगर्भ विरोध करनेके योग्य नहीं है।

गृध्रो ब्रूते,—

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान्बली।
अनेकयुद्धविजयी संधेयाः सप्त कीर्तिताः ॥ २१ ॥

जैसा कहा है—'सत्य बोलने वाला, सज्जन, धर्मशील, दुर्जन, अधिक भाई-बंधु वाला, शूरवीर और अनेक संग्रामोंमें जय पाने वाला ये सात मनुष्य सन्धि करनेके योग्य कहे गये हैं ॥ २१ ॥

'सत्योऽनुपालयेत्सत्यं संधितो नैति विक्रियाम्।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥ २२ ॥

सत्यभाषी सत्यके अनुसार संधि करके विश्वासघात नहीं करता है, और सज्जन प्राण जाने पर भी प्रत्यक्षमें नीचता नहीं करता है ॥ २२ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ २३ ॥

शत्रुओंसे घिरे हुए धार्मिकके सभी अनुकूल होते हैं इसलिये धर्मसे तथा प्रजाके अनुरागसे धार्मिक राजा दु खसे जीतनेके योग्य होता है ॥ २३ ॥

संधिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते।
विना तस्याश्रयेणार्यः कुर्यान्न कालयापनम् ॥ २४ ॥

विनाश उपस्थित होने पर दुष्टके साथ भी मेल कर लेना चाहिये और उसके आश्रयके विना सज्जनको कालयापन(समय काटना) नहीं करना चाहिये ॥२४॥

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा ॥ २५ ॥

और जैसे बहुतसे काँटोंसे लदा हुआ बाँस आपसमें मिले रहनेसे नहीं कट सकता है वैसे ही भाई-बन्धुओंसे मिला हुआ पुरुष भी नष्ट नहीं हो सकता है ॥२५॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २६ ॥

बली शत्रुके साथ युद्ध करना चाहिये ऐसा उदाहरण नहीं है, क्योंकि बादल पवनके प्रतिकूल कभी नहीं चलता है, अर्थात् जिधरसे पवन जाती है उधरसे ही चलता है ॥ २६ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते॥ २७॥

और जमदग्निके पुत्र अर्थात् परशुरामके समान अनेक युद्धोंमें जीतने वाले राजाके प्रतापसे वहुतसे संग्रामोंमें सव मनुष्य सब स्थानमें सब कालमें शत्रु राजाको अधिकारमें कर लेते हैं॥ २७॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः॥ २८॥

अनेक संग्रामोंमें जीतने वाला मनुष्य जिस राजासे मेल कर लेता है तो उसके प्रतापसे (जिसके साथ संधि की है) उसके शत्रु शीघ्र वशमें आ जाते हैं॥२८॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः संधेयोऽयं राजा।' चक्रवाकोऽवदत 'प्रणिधे! सर्वत्रावव्रज। सर्वमवगतम्। गत्वा पुनरागमिष्यसि' राजा चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्त्रिन्! असंधेयाः कति तान्श्रोतुमिच्छामि।'

इसलिये अनेक गुणोंसे युक्त यह राजा मेल करनेके योग्य है।' चक्रवाक [illegible] 'हे दूत! सब स्थानोंमें जा, तुमने सब समझ लिया है, और जा कर [illegible] आइयो।' राजाने चकवेसे पूछा—'हे मंत्री! कितने मनुष्य संधि कर योग्य नहीं हैं, उन्हें सुना चाहता हूं।'

मन्त्री ब्रूते—'देव! कथयामि। शृणु,—

[illegible] कहता हूं सुनिये—

बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिबहिष्कृतः।
भीरुको भीरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा॥ २९॥

[illegible], वृद्ध, [illegible] रोगी और जात बाहर किया हुआ, [illegible] [illegible], लोभी और जिसके लोभी मंत्री हों॥ २९॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान्।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः॥ ३०॥

राजाने 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर विचित्र नाम बगलेको गुप्त चिट्ठी दे कर सिंहलद्वीपको भेज दिया।

अथ प्रणिधिरागत्योवाच—'देव! श्रूयतां तत्रत्यप्रस्तावः। एवं तत्र गृध्रेणोक्तम्—'देव! यन्मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः स वेत्ति किं संधेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो न वा?' इति। ततोऽसौ राजा समाहूय पृष्टः—'वायस! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भः? चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः?' वायस उवाच—'देव! हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः। चक्रवाकसमो मन्त्री न क्वाप्यवलोक्यते।' राजाह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः?'

फिर दूतने आ कर कहा—'महाराज! वहाँका समाचार सुनिये। वहाँ गिद्धने यों कहा है कि हे महाराज! मेघवर्ण काक जो वहाँ बहुत दिनों तक रहा था वह जानता है कि हिरण्यगर्भ मिलापके योग्य गुणोंसे युक्त है या नहीं।' फिर राजाने उसे बुला कर पूछा—'हे कौए! वह हिरण्यगर्भ कैसा है? वा चकवा मन्त्री कैसा है?' कौएने उत्तर दिया—'महाराज! राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिरके समान सज्जन है, चकवेके समान मन्त्री कहीं भी नहीं दीखता है।' राजा बोला—'जो ऐसा ही है तो तूने उसे कैसे ठग लिया?'

विहस्य मेघवर्णः प्राह—'देव!

मेघवर्णने हँस कर कहा—'महाराज!

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ ५२ ॥

विश्वास करनेवाले मनुष्योंको ठगनेमें क्या चतुराई है? जैसे गोदमें लेट कर सोते हुएको मार कर क्या पुरुषार्थ है? अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥ ५१ ॥

शृणु देव! तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शन एव ज्ञातः। किंतु महाशयोऽसौ राजा। तेन मया विप्रलब्धः।

सुनो महाराज! उस मन्त्रीने पहले देखते ही मुझे जान लिया था, परन्तु राजा बड़ा सज्जन है इसलिये मेरी ठगाईमें आ गया,

तथा चोक्तम्—

मतिप्रकर्षो भवतीति समालोच्य वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य पथि स्थिताः। तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण! किमिति कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते?' विप्रेणोक्तम्—'नायं श्वा किंतु यज्ञच्छागः।' अथानन्तरस्थितेनान्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोलायमानमतिश्चलितः।

गौतमके वनमें किसी ब्राह्मणने यज्ञ करना आरभ किया था। और उसको यज्ञके लिये दूसरे गाँवसे बकरा मोल ले कर कधे पर रख कर ले जाते हुए तीन ठगोंने देखा। फिर उन ठगोंने "यह बकरा किसी उपायसे मिल जाय तो बुद्धिकी चालाकी बढ़ जाय" यह विचार कर तीनों तीन वृक्षोंके नीचे, एक एक कोसके अन्तरसे, उस ब्राह्मणके आनेकी वाट देख कर मार्गमें बैठ गये। वहाँ एक धूर्तने जा कर उस ब्राह्मणसे कहा—'हे ब्राह्मण! यह क्या बात है कि कुत्ता कंधे पर लिये जाते हो?' ब्राह्मणने कहा,-'यह कुत्ता नहीं है, यज्ञका बकरा है।' फिर इससे आगे बैठे हुए दूसरे धूर्तने वैसे ही कहा। यह सुन कर ब्राह्मण बकरेको धरनी पर रख कर बार बार देख फिर कधे पर रख कर चलायमान चित्त-सा हो कर चलने लगा।

यतः,—

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५३ ॥

क्योंकि—सज्जनोंकी भी बुद्धि दुष्टोंके वचनोंसे सचमुच चलायमान हो जाती है-जैसे दुष्टोंकी बातोंसे विश्वासमें आ कर यह ब्राह्मण चित्रकर्णनामक ऊँटके समान मरता है' ॥ ५३ ॥

राजाह—'कथमेतत्?' स कथयति—

राजा बोला-'यह क्या कैसे है?' वह कहने लगा।—

॥ कथा ११ ॥

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः काको व्याघ्रो जम्बुकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः पृष्टश्च—'कुतो भवानागतः सार्थाद्भ्रष्टः?' स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तैर्नीत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः। तेनाभयवाचं दत्त्वा चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः। अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्—'चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजा?' व्याघ्र उवाच-'स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वानुगृहीतस्तत्कथमेवं संभवति?' काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति।

किसी वनमें मदोत्कट नाम सिंह रहता था। उसके काग, बाघ और सियार

तीन सेवक थे। पीछे उन्होंने घूमते घूमते किसी ऊँटको देखा और पूछा-'तुम साथियोंसे बिछट कर कहाँसे आये हो?' फिर उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। तब उन्होंने उसे ले जा कर सिंहको सौंप दिया। उसने अभय-वचन दे कर उसका चित्रकर्ण नाम रख कर रख लिया। बाद एक दिन वे सिंहके शरीरके खेद तथा वर्षाके चारा भोजनको न पा कर दुखी होने लगे। फिर उन्होंने विचारा जिसमें चित्रकर्णको ही स्वामी मारे सो उपाय करो। इस काँटे चरने वालेसे क्या है?' बाघ बोला-'स्वामीने उसे अभय-वचन दे कर रक्खा है इसलिये ऐसा कैसे हो सकता है?' काग बोला-'इस समय भूखसे घबराया हुआ स्वामी (सिंह) पाप भी करेगा।

यतः,—

> त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं
> खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
> बुभुक्षितः किं न करोति पापं
> क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥ ५४ ॥

[illegible]—भूखी स्त्री अपने पुत्रको छोड़ देती है, भूखी नागन अपने अंडेको खा लेती है, और भूखा क्या क्या पाप नहीं करता है? क्योंकि क्षीण मनुष्य दयाहीन होते हैं, अर्थात् भूख और बुढ़ापेसे क्षीण यह सिंह दयारहित बन जायगा ॥ ५४ ॥

अन्यच्च,—

> मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
> लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्' ॥ ५५ ॥

और दूसरे—मतवाला, असावधान, उन्मत्त, थका हुआ, क्रोधित, भूखा, लोभी, डरपोक, जल्दी करने वाला, और कामी ये धर्मके जानने वाले नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

इति संचिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्—'आहारार्थं किंचित्प्राप्तम्?' तैरुक्तम्—'यत्नादपि न प्राप्तं किंचित्।' सिंहेनोक्तम्—'कोऽधुना जीवनोपायः?' काको वदति—'देव! स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः।' सिंहेनोक्तम्—'अत्राहारः कः स्वाधीनः?' काकः कर्णे कथयति—'चित्रकर्णः' इति। सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः। तत्कथमेवं संभवति?

कथं शत्रुमध्ये त्वया चिरमुषितम्? कथं वा तेषामनुनयः कृत मेघवर्ण उवाच—'देव! स्वामिकार्यार्थिना स्वप्रयोजनवशाद्वा न क्रियते?

सिंहने कहा—'मरना भला है पर ऐसे काममें मन चलाना अच्छा नहीं सियारने भी यही कहा। फिर सिंहने कहा—'ऐसा कभी नहीं।' फिर बाघने क 'मेरे शरीरसे स्वामी प्राण-रक्षण करें।' सिंहने कहा कि—'यह भी कभी उ नहीं है।' पीछे चित्रकर्णने भी विश्वासके मारे वैसे ही अपनेको दान देनेके कहा। फिर उसके कहेसे उस बाघने कोखको फाड़कर उसे मार डाला और स खा लिया। इसलिये मैं कहता हूँ कि "बुद्धि सचमुच चलायमान हो है" इत्यादि। फिर तीसरे धूर्तकी बात सुन कर अपने बुद्धिके भ्रमको नि करके बकरेको छोड़ कर ब्राह्मण न्हा कर घर गया। उन धूर्तोंने उस बकरेको ले कर खा लिया। इसलिये मैं कहता हूँ—"जो अपने समान (औरोंको) जानता इत्यादि।' राजा बोला—'हे मेघवर्ण! शत्रुओंके बीचमें इतने दिन तक तू रहा? और तूने उन्होंकी विनती करी?' मेघवर्णने कहा—'महाराज! स्वा के काजके चाहनेवाले, अथवा अपने प्रयोजनके लिये, क्या नहीं करना पड़ता है

और देख,—

लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेगो निकृन्तति॥ ५९॥

हे राजन्—मनुष्य, जलानेके लिये ईंधनको क्या सिर पर नहीं उठाते हैं? और नदीका वेग वृक्षकी जड़को धोता हुआ भी उखाड़ देता है॥ ५९॥

तथा चोक्तम्,—

ऽन्यः पृथिव्यां लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे
वास्तत्रागत्योपविष्टाः ।

पुराने उपवनमें मदविष नाम सर्प रहता था । वह अधिक बूढा होनेसे
भी ढूँढनेके लिये असमर्थ हो सरोवरके किनारे पर लटक कर बैठा था ।
दूसरे किसी मेंडकने देखा, और पूछा—क्या बात है जो तुम भोजनको नहीं
हो?' सर्पने कहा—'हे मित्र ! जाओ, मुझ भाग्यहीनका क्या पूछना है ?'
आश्चर्ययुक्त हो कर उस मेंडकने यह कहा कि 'अवश्य ही कहो ।' सर्पने कहा—
त्र ! ब्रह्मपुरके निवासी कौंडिन्य नाम वेदपाठीके सब गुणोंसे युक्त बीस
पुत्रको दुर्भाग्य और दुष्ट स्वभावसे मैंने डस लिया । तब उस सुशील
पुत्रको मरा हुआ देख कर कौंडिन्य पछाड खा कर धरतीमें गिर पडा !
सब ब्रह्मपुरवासी बान्धव वहाँ आ कर बैठे ।

चोक्तम्,—

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥ ६१ ॥

सा कहा है—विवाह आदि उत्सवमें, दु खमें, संग्राममें, अकालमें, राज्यके
में, राजद्वारमें और श्मशानमें जो साथ रहता है वह सच्चा बान्धव है' ॥

कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य! मूढोऽसि ।
विलपसि ?

हाँ एक कपिल नाम भिक्षुने कहा—'अरे कौंडिन्य ! तुम मूर्ख हो इसीसे
करते हो ? सुनो—

शृणु,—

क्रोडीकरोति प्रथमं यथा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात्तथा शोकस्य कः क्रमः ॥ ६२ ॥

से पहले प्राणीके उत्पन्न होते ही, अनित्यता ग्रहण करती है, वैसे ही पीछे
के समान माता गोदमें खिलाती है, इसलिये इसमें शोककी कौनसी बात
॥ ६२ ॥

क गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६३ ॥

नाके चतुरंग बल तथा हाथी, घोडे इत्यादिसे युक्त राजा कहाँ गये कि
जिनकी वियोगकी साक्षी देने वाली पृथ्वी आज तक वर्तमान है ॥ ६३ ॥

र च,—

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ ६४ ॥

और दूसरे—शरीरके संग नाश है, संपत्तियाँ विपत्तियोंका स्थान है, समागमके
वियोग है, और सब उत्पन्न होने वाली वस्तु नाश होने वाली है ॥६४॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते ॥ ६५ ॥

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भे निवासी नरवीरलोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ ८० ॥

वीर पुरुष जिस पहली रातको गर्भमें आता है उसी दिनसे निरंतर चलते हुए नित्य मृत्युके पास सरकता जाता है ॥ ८० ॥

अतः संसारं विचारय। शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः।

इसलिये संसारको विचारो। यह शोक अज्ञानका पसारा है।

यतः,—

अज्ञानं कारणं न स्याद्वियोगो यदि कारणम्।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्धतामपयाति किम् ॥ ८१ ॥

देखो,—जो वियोगही दुःखका कारण होता और अज्ञान कारण नहीं होता तो दिनपरदिन शोक बढ़ना चाहिये था, फिर भला घटता क्यों जाता है? इससे अज्ञान ही शोकका कारण है ॥ ८१ ॥

तदात्मानमनुसंधेहि। शोकचर्चां परिहर।

इस कारण अपने आत्माको स्थिर करो, शोककी चर्चाको दूर करो,

यतः,—

क्योंकि–किसी आश्रममें अनुरक्त होय, दुखी हो कर भी धर्मका आचरण
े और सब प्राणियोंमें समान स्नेह रखे, क्योंकि सिर मुंडा कर गेरुए कपड़े
ादि धारण वगेरह चिन्हही धर्मका कारण नहीं है ॥ ८४ ॥

क च,—

वृत्त्यर्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥ ८५ ॥

औरभी कहा है–जिन मनुष्योंका केवल आजीविकाके लियेही भोजन
, संतान उत्पन्न करनेके लियेही मैथुन है और सत्य वचन बोलनेके लियेही
णा है वे कठिन स्थानोंसेभी पार हो जावे हैं ॥ ८५ ॥

था हि,—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ ८६ ॥

जैसा कहा है कि–हे युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंका संयमन (रोकना)ही जिसका
यतीर्थ है, सत्यही जिसका जल है, शील जिसका किनारा है और दयाही जिसमें
हरयोंकी माला है, ऐसी आत्मारूपी नदीमें स्नान कर, क्योंकि केवल पानीसेही
दरकी आत्मा शुद्ध नहीं होती है ॥ ८६ ॥

शेषतश्च,—

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम् ॥ ८७ ॥

और विशेष करके जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और शोक इनसे भरे हुए
उत्पन्न असार इस संसारको छोड़ देने वाले मनुष्यको सुख है ॥ ८७ ॥

यतः,—

दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ८८ ॥

क्योंकि–इस संसारमे दुःखही दुःख है सुख नहीं है कि जिस दुःखसे वह
सुखभी अनुभव होता है, क्योंकि दुःखसे पीडित मनुष्यके दुःख दूर होने पर
ह दुःखही सुख कहाता है' ॥ ८८ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव ।' ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन
शप्तः—'यदद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि' इति । कपिलो
ब्रूते—'संप्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान् । शोकाविष्टं ते हृदयम् ।

कौण्डिन्य बोला कि–'ऐसेही है ॥' तब उस शोकसे व्याकुल ब्राह्मणने मुझे
शाप दिया–'आजसे ले कर तू मेंढकोंका वाहन होगा ।' कपिल बोला–'तुम अभी

[दक्षि]णोंको खा लो।' फिर "यह महाप्रसाद मैंने ग्रहण किया" यह कह कर उसने क्रमसे मेढ़कोंको खाने लगा। फिर मेढकोंसे खाली सरोवरको देख कर मेढ़के राजाकोभी खा लिया इसलिये मैं कहता हूं, "शत्रुओंकोभी कंधे पर चढावे" आदि हे महाराज! पहले वृत्तान्तके कहनेको अब रहने दीजिए सब प्रकारसे हिरण्यगर्भ राजा सन्धि करने योग्य है इसलिए मेरी समझमें तो सन्धि कर लीजिये' राजाने कहा–'यह तुम्हारा कैसा विचार है? क्योंकि इसको तो हम जीत चुके हैं, फिर जो वह हमारी सेवाके लिये रहे तो भलेही रहे नहीं तो युद्ध किया जाय

अत्रान्तरे जम्बुद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्—'देव! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा संप्रति जम्बुद्वीपमाक्रम्यावतिष्ठते।' राजा ससम्भ्रमं ब्रूते—'किं किम्?' शुकः पूर्वोक्तं कथयति। गृध्रः स्वगतमुवाच—'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् सर्वज्ञ! साधु साधु।' राजा सकोपमाह—'आस्तां तावदयम्। गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि।'

इसी अवसरमें जम्बूद्वीपसे आ कर तोतेने कहा—'महाराज! सिंहलद्वीपका सारस राजा अब जम्बूद्वीपको घेरे हुये टठा हुआ है।' राजा घबरा कर बोला–'क्या क्या?' तोतेने पहिली बात दुहरा कर कही। गिद्धने अपने मनमें सोचा कि 'धन्य है अरे चकवे मंत्री सर्वज्ञ! तुझे धन्य है, धन्य है।' राजा झुंझला कर बोला–'इसे तो रहने दो। मैं जा कर उसीको जड़से नाश करूंगा'

दूरदर्शी विहस्याह—

'न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम्।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान्॥ ९१॥

दूरदर्शी हँस कर बोला–'शरद्ऋतुके मेघके समान वृथा गंभीर गर्जना नहीं चाहिये, बडे पुरुष शत्रुके अर्थको अथवा अनर्थको प्रकट नहीं करते हैं॥ ९१॥

अपरं च,—

एकदा न विगृह्णीयाद्बहून्राजाभिघातिनः।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्॥ ९२॥

और दूसरे–राजा एकही समय पर बहुतसे शत्रुओंसे नहीं लडे, क्योंकि, अहंकारी सर्पकोभी निश्चय करके बहुतसी (क्षुद्र) चींटिया मार डालती हैं॥ ९२॥

देव! किमिति विना संधानं गमनमस्ति? यतस्तदा सत्पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्तव्यः।

हे महाराज! विना मेल किये कैसे जावे हो? क्योंकि फिर हमारे जानेके पीछे यह बडा कोप करेगा

अपरं च,—

योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नकुलाद्यथा'॥ ९३॥

नौला ब्राह्मणको आता देख लोहूसे लिहसे हुए मुख तथा पैर किये शीघ्र पास आ कर उसके चरणों पर लोट गया. फिर उस ब्राह्मणने उसे वैसा देख कर "इसने बालकको खा लिया है" ऐसा समझ कर नौलेको मार डाला. पीछे ब्राह्मणने जो बालकके पास आ कर देखा तो बालक अच्छा है और सर्प मरा हुआ पड़ा है। फिर उस उपकारी नौलेको देख कर मनमे घबरा कर बड़ा दु खी हुआ इसलिये मैं कहता हू, "जो बातके भेदको न जान कर" इत्यादि.

अपरं च,—

कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः' ॥ ९५ ॥

और दूसरे—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहकार, तथा मद इन छ बातोंको छोड़ देना चाहिये, और इनके त्यागनेसे राजा सुखी होता है' ॥ ९५ ॥

राजाह—'मन्त्रिन्! एष ते निश्चयः?' मन्त्री ब्रूते—'एवमेव ।

राजा बोला–'हे मन्त्री ! यह तेरा निश्चय है? मन्त्रीने कहा–'हा, ऐसाही है.

यतः,—

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ ९६ ॥

क्योंकि–धर्मके तत्त्वोंमे स्मरण, विवेक, बुद्धिकी स्थिरता, दृढ़ता, और मन्त्रको गुप्त रखना ये मन्त्रीके मुख्य गुण हैं ॥ ९६ ॥

तथा च,—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥ ९७ ॥

औरभी कहा है–एकाएक विना विचारे कोई काम न करना चाहिये, क्योंकि अविवेक याने विवेकका न होना आपत्तियोंका मुख्य स्थान है. और गुणको चाहने वाली सपत्तिया विचार कर करने वाले(सदसद्विवेकी पुरुष)के पास आपसे आप चली आती हैं ॥ ९७ ॥

तद्देव ! यदिदानीमस्मद्वचनं क्रियते तदा संधाय गम्यताम् ।

इसलिये हे महाराज ! जो अब मेरी बात मानो तो मेल करके चलिये ।

यतः,—

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता' ॥ ९८ ॥

क्योंकि–यद्यपि मनोरथके सिद्ध करनेमे चार उपाय (साम, दाम, दड और भेद) कहे हैं तथापि उन उपायोंका फल, केवल गिनतीही है परन्तु कार्यका साधन मेलमे रहता है, अर्थात् मेलसेही कार्य बन जाता है ॥ ९८ ॥

दूरदर्शी बडा सज्जन है । अथवा ऐसा मन्दबुद्धियोंका नियम है कि कभी तो शङ्का नहीं करते हैं, कभी सर्वत्र शङ्का करते हैं ।

तथा हि,—

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥ १०१ ॥

कुमुदिनीको ढूडने वाला चतुर हंस रातको सरोवरमें बहुतसे तारोंकी परछाईसे क्षणभर ठगा हुआ (अर्थात् तारोंकी परछाईको कुमुदिनी जान कर) दिनमेंभी तारोंकी शङ्कासे फिर श्वेतकमलोंको नहीं लेता है, जैसे छलसे छला गया संसार सत्यमेंभी बुराईकी शङ्का करता है ॥ १०१ ॥

दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः ।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ १०२ ॥

दुष्टोंसे छले हुए चित्त वाले मनुष्यका सज्जनोंमेंभी विश्वास नहीं रहता है. जैसे क्षीरसे जला हुआ बालक दहीकोभी सचमुच फूक फूक कर खाता है ॥१०२॥

तद्देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रियताम् ।' तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः । चक्रवाक उवाच—'युष्मदायत्तं सर्वम् । स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम् ।' राजहंसो ब्रूते—'एवमेव ।' दूरदर्शी कथयति—'एवमेवैतत् । किन्त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम् ।

इसलिये महाराज ! शक्तिके अनुसार उसके सत्कारके लिये रत्नोंकी भेट आदि सामग्री अच्छे प्रकारसे तयार कीजिये । फिर ऐसा करने पर उस गिद्ध मन्त्रीको गढके द्वारसे चकवेने पास जा कर आदरपूर्वक लिवाला कर राजाका दर्शन कराया और वह दिये हुए आसन पर बैठ गया । फिर चकवा बोला–'सब तुम्हारे आधीन है। अपनी इच्छानुसार इस राज्यको भोगिये ।' राजहंसने कहा–'हा, ठीक है ।' दूरदर्शी बोला–'हा, यह ऐसेही हो । परन्तु अब बहुतसी प्रपञ्चकी बात वृथा है.

यतः,—

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ १०३ ॥

क्योंकि–लोभीको धनसे, अभिमानीको हाथ जोड कर, मूर्खको उसका मनोरथ पूरा करके और पण्डितको ज्योंकी त्यों सच सच कह कर वशमें करना चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यच्च,—

सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण तु बान्धवान् ।
स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान् ॥ १०४ ॥

राजाह—'कथमेवं संभवति?' मन्त्री ब्रूते—'देव! सत्वरं भविष्यति।

यह सुन कर राजा बोला-'ऐसा कैसे हो सकता है?' मंत्रीने कहा-'महाराज! शीघ्र हो जायगा।

पश्य,—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति॥ ९९॥

क्योंकि—मूर्ख सहजमें मिलाने योग्य है, और अधिक बुद्धिमान् औरभी सहजमें प्रसन्न कर लिया जाता है परन्तु थोड़ेही ज्ञानसे अभिमानी मनुष्यको ब्रह्माभी प्रसन्न नहीं कर सकता है॥ ९९॥

विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च। ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसंदर्शनाच्च।

और विशेष करके यह राजा धर्मशील और मत्री सर्वज्ञ है। मैंने यह पहलेही मेघवर्णकी बातसे और उनके किये हुए कार्योंके देखनेसे जान लिया था

यतः,—

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुभाव्यते'॥ १००॥

क्योंकि—सर्वत्र परोक्षमें गुणोंसे युक्त अर्थात् अपने गुणोंको नहीं प्रकट करने वाले पुरुष कर्मसे जाने जाते हैं। इसलिये जिनका आकार और हृदयका भाव छुपा हुआ है ऐसे महान् पुरुषोंको कर्मके बलसे निश्चय करे'॥ १००॥

राजाह—'अलमुत्तरोत्तरेण। यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्।' एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री 'तत्र यथार्हं कर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा दुर्गाभ्यन्तरं चलितः। ततः प्रणिधि बकेनागत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितम्—'देव! संधिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छत्।' राजहंसो ब्रूते—'मन्त्रिन्! पुनः संबन्धिना केनचिदत्रागन्तव्यम्।' सर्वज्ञो विहस्याह—'देव! न शङ्कास्पदमेतत्। यतोऽसौ महाशयो दूरदर्शी। अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्। कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते कदाचित्सर्वत्र शङ्का।

राजा बोला-'इस उत्तर प्रत्युत्तरको रहने दो। जो करना है सो कीजिये' यह परामर्श करके महामत्री गिद्ध "इसमें जो उचित होगा, सो किया जायगा" यह कह कर गढ़के अदर गया। फिर दूत बगलेने आ कर राजा हिरण्यगर्भसे निवेदन किया कि 'महाराज! महामत्री गिद्ध हमारे पास मेल करनेके लिये आया है' राजहसने कहा-'हे मत्री! फिर किसी न किसी सबन्धसे यहा आया होगा.' सर्वज्ञ हँस कर बोला-'महाराज! यह शकाका स्थान नहीं है. क्योंकि मह

दूरदर्शी बड़ा सज्जन है। अथवा ऐसा मन्दबुद्धियोंका नियम है कि कभी तो शंका नहीं करते हैं, कभी सर्वत्र शंका करते हैं।

तथा हि,—

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥ १०१ ॥

कुमुदिनीको ढूढने वाला चतुर हंस रातको सरोवरमें बहुतसे तारोंकी परछाईंसे क्षणभर ठगा हुआ (अर्थात् तारोंकी परछाईको कुमुदिनी जान कर) दिनमेंभी तारोंकी शंकासे फिर श्वेतकमलोंको नहीं लेता है, जैसे छलसे छला गया संसार सत्यमेंभी बुराईकी शंका करता है ॥ १०१ ॥

दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ १०२ ॥

दुष्टोंसे छले हुए चित्त वाले मनुष्यका सज्जनोंमेंभी विश्वास नहीं रहता है, जैसे क्षीरसे जला हुआ बालक दहीकोभी सचमुच फूक फूक कर खाता है ॥१०२॥

तद्देव! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रियताम्।' तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः। चक्रवाक उवाच—'युष्मदायत्तं सर्वम्। स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्।' राजहंसो ब्रूते—'एवमेव।' दूरदर्शी कथयति—'एवमेवैतत्। किंत्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम्।

इसलिये महाराज! शक्तिके अनुसार उसके सत्कारके लिये रत्नोंकी भेट आदि सामग्री अच्छे प्रकारसे तयार कीजिये। फिर ऐसा करने पर उस गिद्ध मंत्रीको गढके द्वारसे चकवेने पास जा कर आदरपूर्वक लिवाला कर राजाका दर्शन कराया और वह दिये हुए आसन पर बैठ गया। फिर चकवा बोला–'सब तुम्हारे आधीन है। अपनी इच्छानुसार इस राज्यको भोगिये।' राजहंसने कहा–'हां, ठीक है।' दूरदर्शी बोला–'हां, यह ऐसेही हो। परन्तु अब बहुतसी प्रपंचकी बात वृथा है.

यतः,—

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ १०३ ॥

क्योंकि–लोभीको धनसे, अभिमानीको हाथ जोड़ कर, मूर्खको उसका मनोरथ पूरा करके और पण्डितको ज्योंकी त्यों सच सच कह कर वशमें करना चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यच्च,—

सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण तु बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान् ॥ १०४ ॥

और दूसरे-विनयसे मित्रको, मीठी बातोंसे बांधवोंको, दान तथा मानसे स्त्री और सेवकोंको तथा चतुरतासे और और लोगोंको वश करना चाहिये ॥१०४॥

तदिदानीं संधाय गम्यताम्। महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा।' चक्रवाको ब्रूते—'यथा संधानं कार्यं तदप्युच्यताम्।' राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकाराः संधीनां संभवन्ति ?'

इसलिये अब मेलके लिये चलिये, चित्रवर्ण राजा बड़ा प्रतापी है। चकवा बोला-'जैसे मेल करना चाहिये सोभी तो कहिये।' राजहंस बोला-'संधियां कितने प्रकारकी हैं ?'

गृध्रो ब्रूते—'कथयामि श्रूयताम्,—

गिद्ध बोला'-कहता हूं। सुनिये,—

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः।
आपन्नः संधिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम् ॥ १०५ ॥

सबल शत्रुके साथ जिसने युद्ध कर रक्खा है और संधिको छोड़ और कोई जिसका उपाय नहीं, ऐसे आपत्तिमें गिर कर समय व्यतीत करते हुये राजाको संधिकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १०५ ॥

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ १०६ ॥

और कपाल, उपहार, संतान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, ॥ १०६ ॥

अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ १०७ ॥

अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रह, परिक्रय, उच्छन्न, और परभूषण, ॥ १०७ ॥

स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः।
इति षोडशकं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १०८ ॥

स्कंधोपनेय, यह सोलह प्रकारकी संधि कही गई है और संधिके जानने वाले इन्हींको सोलह संधि कहते हैं ॥ १०८ ॥

कपालसंधिर्विज्ञेयः केवलं समसंधितः।
संप्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ १०९ ॥

केवल समान वालेके साथ मेल करनेको "कपालसंधि" कहते हैं, और जो धन देनेसे होती है वह "उपहारसंधि" कहलाती है ॥ १०९ ॥

संतानसंधिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः।
सद्भिस्तु संगतः संधिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११० ॥

कन्यादान देनेसे जो हो उसे "सन्तानसंधि" जाननी चाहिये और सज्जनोंके साथ मित्रतापूर्वक मेल करनेको "संगतसंधि" कहते हैं ॥ ११० ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः।
संपत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यो न भिद्यते ॥ १११ ॥

जितना अवस्थाका प्रमाण है तब तक समान धनसे युक्त रहे और संपत्ति या विपत्तिमें अनेक कारणोंसेभी नहीं टूटे ॥ १११ ॥

संगतः संधिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत्।
तथान्यैः संधिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः ॥ ११२ ॥

वह संगतसंधि परमोत्तम होनेसे सुवर्णके समान है और दूसरे संधि जानने वालोंने इसको "कांचनसंधि" कही है, अर्थात् सुवर्णके समान, नव भलेही जाय परन्तु टूटती नहीं है ॥ ११२ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ११३ ॥

अपना काम निकालनेके अभिप्रायसे जो की जाती है उसे नीति जाननेवाले "उपन्यासंसंधि" कहते हैं ॥ ११३ ॥

मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति।
इति यः क्रियते संधिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ ११४ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है यहभी मेरा करेगा इस हेतुसे जो संधि की जाती है उसे "प्रतीकारसंधि" कहते हैं ॥ ११४ ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ ११५ ॥

और मैं इसका उपकार करता हूं यहभी मेरा करेगा यहभी दूसरे प्रकारकी रामसुग्रीव जैसी प्रतीकारसंधि है ॥ ११५ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति।
सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ ११६ ॥

जहां एकही प्रयोजनके करनेके लिये दृढ प्रमाणोंसे युक्त संधि होती है उसको "संयोगसंधि" कहते हैं ॥ ११६ ॥

आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते स संधिः पुरुषान्तरः ॥ ११७ ॥

हम दोनोंके मुख्य योद्धा लोग हमारा कार्यसाधन करे ऐसी जिसमें प्रतिज्ञा की जाती है वह "पुरुषांतरसंधि" है ॥ ११७ ॥

त्वयैकेन मदीयोऽर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ ११८ ॥

और केवल तुझेही मेरे कामको अच्छी तरह कर देना चाहिये ऐसी प्रतिज्ञा जिस संधिमें शत्रु करे उसे "अदृष्टपुरुषसंधि" कहते हैं ॥ ११८ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः।
संधीयते संधिविद्भिः स चादिष्ट उदाहृतः ॥ ११९ ॥

जहां राज्यका एक भाग देनेके पणसे बलवान् शत्रुके साथ जो संधि की जाती है उसको संधि जानने वाले "आदिष्टसंधि" कहते हैं ॥ ११९ ॥

स्वसैन्येन तु संधानमात्मादिष्ट उदाहृतः।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२० ॥

अपनी सेनाके साथ जो संधि करता है वह "आत्मादिष्टसंधि" है और जो अपनी रक्षाके लिये सर्वस्व दे कर की जाती है वह "उपग्रहसंधि" है ॥१२०॥

कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२१ ॥

जो कोशसे कुछ भाग, आधे कोशसे या संपूर्ण कोशसे सज्जन मंत्रीकी रक्षाके लिये की जाती है वह "परिक्रयसंधि" कही गई है ॥ १२१ ॥

भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः ॥ १२२ ॥

सारवती अर्थात् अन्नसे पूर्ण भूमिके देनेसे जो हो उसे "उच्छिन्नसंधि" कहते हैं और भूमिमें उपजे हुए संपूर्ण फलके देनेसे जो हो उसे "परभूषणसंधि" कहते हैं ॥ १२२ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १२३ ॥

और जिसमें खेतसे लाया हुआ और स्वच्छ किया हुआ अन्न कधोंके ऊपर लिवा ले जा कर दिया जाता है संधि जानने वाले उसको "स्कन्धोपनेयसंधि" कहते हैं॥ १२३ ॥

परस्परोपकारस्तु मैत्री संबन्धकस्तथा।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव संधयः ॥ १२४ ॥

परस्पर आपसमें उपकार, मित्रता, संबन्ध तथा भेट येभी चार प्रकारकी संधि जाननी चाहिये ॥ १२४ ॥

एक एवोपहारस्तु संधिरेव मतो मम।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिताः ॥ १२५ ॥

केवल उपहार अर्थात् भेटही एक उपहार संधि है यह मेरी संमति है और उपहारसे भिन्न और सब प्रकारकी संधियां मित्रता करके रहित हैं ॥ १२५ ॥

अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते।
उपहाराद्दते तस्मात्संधिरन्यो न विद्यते' ॥ १२६ ॥

और चढाई करके युद्धके लिये आने वाला शत्रु बलवान् होनेसे थोड़ाभी धन बिना लिये नहीं लौटता है इसलिये उपहारको छोड़ दूसरे प्रकारकी संधि नहीं है' ॥ १२६ ॥

राजाह—'भवन्तो महान्तः पण्डिताश्च। तदत्रास्माकं यथाकार्यमुपदिश्यताम्।' मन्त्री ब्रूते—'आः! किमेवमुच्यते ?

राजा बोला—'आप लोग तो बडे पण्डित हैं। इसलिये हमको जो करना चाहिये सो उपदेश कीजिये।' मन्त्री बोला—'अजी! आप क्या कहते हैं'

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्॥ १२७॥

मनका संताप, रोग और पुत्रादिके वियोगसे उत्पन्न हुआ क्लेश इनसे आज अथवा कल विनाश पाने वाले शरीरके लिये कौनसा मनुष्य धर्मरहित आचरण करेगा? ॥ १२७॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम्।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत्॥ १२८॥

देहधारियोंका जीवन निश्चय करके पानीके भीतर चन्द्रमाके बिंबके समान चंचल है ऐसा इसे जान कर सर्वदा कल्याणका आचरण करना चाहिये १२८

मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम्।
सज्जनैः संगतं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च॥ १२९॥

मृगतृष्णाके समान क्षणभंगुर संसारको विचार कर धर्म और सुखके लिये सज्जनोंके संग मेल करना चाहिये॥ १२९॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम्।

इसलिये मेरी समझसे वही करिये।

यतः,—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते॥ १३०॥

क्योंकि—सहस्रों अश्वमेध यज्ञ और सत्य, तराजूमें रख कर तोले गये तो सचमुच सहस्र अश्वमेधसे सत्यहीका पलड़ा भारी रहा॥ १३०॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमप्यनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानसंधिर्विधीयताम्।' सर्वज्ञो ब्रूते—'एवमस्तु।' ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालंकारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं संभाषितस्तथाविधं संधिं स्वीकृत्य राजहंससमीपं प्रस्थापितः। दूरदर्शी ब्रूते—'देव! सिद्धं नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम्। अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

इसलिये सत्य वचनको स्वीकार करके इन दोनों राजाओंको काचन नाम संधि करनी चाहिये.' सर्वज्ञ बोला—'यही ठीक है.' फिर राजहंसराजाने वस्त्र और अलंकारोंकी भेटसे उस मन्त्री दूरदर्शीका सत्कार किया और वह प्रसन्नचित्त हो कर चकवाकको ले कर राजा मयूरके पास गया. और वहा गिद्धके वचनसे चित्रवर्ण राजा बड़े आदरसत्कारपूर्वक सर्वज्ञसे बोला और उसी प्रकारकी अर्थात् काचननाम संधिको स्वीकार करके राजहंसके पास बिदा हुआ। दूरदर्शी बोला—'महाराज! हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ, अब अपने स्थान विन्ध्याचलकोही लौट कर चलना चाहिये फिर सबने अपने अपने स्थान पर पहुंच कर मनोवांछित फल पाया.

विष्णुशर्मणोक्तम्—'अपरं किं कथयामि? कथ्यताम्' राजपुत्रा ऊचुः—'तव प्रसादाद्राज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम्। त सुखिनो भूता वयम्।'

विष्णुशर्माने कहा-'और क्या कहूं? कहिये।' राजपुत्र बोले-'आ प्रसादसे राजके व्यवहारका अग (राजनीति) जाना। और उससे सुखी हुये।

विष्णुशर्मोवाच—'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु,—

तव विष्णुशर्मा बोले-'यद्यपि ऐसा है तथापि यह और होय,—

संधिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्धताम्।
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः'॥ १३१॥

विजयशील राजाओंको संधि सदा प्रसन्न करने वाली हो, सज्जन मनु विपत्तिरहित हों, सत्कर्म करने वालोंका यश बहुत काल तक बढे, नीति वेश्या समान सर्वदा मन्त्रियोंके हृदय पर शोभायमान रह कर मुखचुम्बन करती र अर्थात् मुख और हृदयमें निवास करे और प्रतिदिन अधिक आनन्द हो॥१३१

अन्यच्चास्तु,—

यह और भी होय कि—

प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स याव-
द्यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती।
यावत्स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽयं कथानाम्॥१३

जब तक चन्द्रशेखर महादेवजी पार्वतीजीके साथ स्नेहपूर्वक वसें, जब त मेघमें बिजलीके समान श्रीविष्णु भगवान्के हृदयमें लक्ष्मी निवास करे, औ जब तक जिसके चिनगारीके समान सूर्य है ऐसा दावानलके समान मेरुपर्व स्थित रहे तब तक नारायणपण्डितका बनाया हुआ यह कथाओंका संग्र प्रचलित रहे॥ १३२॥

अपर च,—

श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून्।
येनायं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः॥ १३३॥

और यह चक्रवर्ती श्रीमान् राजा धवलचन्द्र शत्रुओंको जीते कि जिन्हे यह संग्रह यत्नसे लिखवा कर प्रचार किया॥ १३३॥ इति॥

प० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेशग्रन्थके संधिप्रकरण चतुर्थ भागका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ शुभम्.

समाप्तोऽयं हितोपदेशः।

प्रथमं परिशिष्टम् ।

१ हितोपदेशगतकथासूचीपत्रम् ।

द्वितीयं परिशिष्टम् ।

२ हितोपदेशगतश्लोकविषयकसूचीपत्रम् ।



श्लोकविषयकसूचीपत्रम् ।

इति हितोपदेशगतश्लोकविषयकसूचीपत्रं समाप्तम् ॥

तृतीयं परिशिष्टम् ।

हितोपदेशगतश्लोकानुक्रमणिका ।